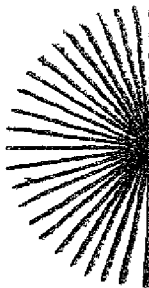
...नाथ शर्मा

विशिष्ट संस्कृति निबंध

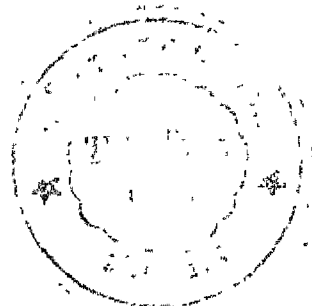




विशिष्ट साहित्यिक निबन्ध

[हिन्दी साहित्य की सभी विधाओं से पूर्ण ४१ मौलिक साहित्यिक निबन्धों का संग्रह]

लेखक
राजनाथ शर्मा,



विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

प्रकाशक
विनोद पुस्तक मन्दिर
कार्यालय : रांगेय राघव मार्ग, आगरा–२
बिक्री-केन्द्र : हॉस्पिटल रोड, आगरा–३

प्रथम संस्करण

मूल्य : ५५.००

मुद्रण रवि मुद्रणालय आगरा २

हिन्दी भाषा और साहित्य के

मेरे आदि गुरु

पंडित रामनारायण शर्मा

(भूतपूर्व हिन्दी-अध्यापक,

बैप्टिस्ट मिशन हाई स्कूल, आगरा)

के

श्रीचरणों में सादर

समर्पित

—राजनाथ

अपनी बात



आज से लगभग ढाई दशक पूर्व मेरा पहला निबन्ध-संग्रह—'साहित्यिक निबंध' पहली बार प्रकाशित हुआ था। आज उसका अठारहवाँ संस्करण बाज़ार में है। उसके प्रत्येक संस्करण में मैं नए-नए विषयों पर निबन्ध जोड़ता चला गया था। अन्त में उसका कलेवर इतना अधिक बढ गया कि उसमें और अधिक निबन्ध जोड़ना सम्भव नहीं रहा। इधर परीक्षाओं में नई शैली के तथा नए-नए विषयों से सम्बन्धित निबन्ध आने लगे। अतः मेरे पाठक तथा अध्यापक-बन्धु काफी समय से मुझसे यह आग्रह करते आ रहे थे कि मैं नए विषयों पर निबन्ध लिखूँ। प्रस्तुत 'विशिष्ट साहित्यिक निबन्ध' शीर्षक मेरा यह नया निबन्ध-संग्रह मेरे पाठकों और मित्रों की उसी माँग और दबाव का प्रतिफल है। इसे एक प्रकार से 'साहित्यिक निबन्ध' का दूसरा भाग माना जा सकता है। इसे लिखने से पूर्व मैंने नए विषयों की एक लम्बी सूची बनाई। फिर उस सूची में से उन विषयों का चयन किया जो पिछले कुछ वर्षों से बहुत लोकप्रिय रहे हैं।

लेखन आरम्भ से ही मेरा व्यवसाय और जीविका-उपार्जन का साधन रहा है। इसकी सुरक्षा के लिए मुझे निरन्तर अध्ययन-रत रहना पड़ता है। साधन सीमित रहते हुए भी मेरा भरसक यह प्रयत्न रहता है कि मैं नवीनतम साहित्यिक गतिविधियो से परिचित बना रहूँ। जो कुछ सहज उपलब्ध हो जाता है, पढ़ता रहता हूँ। इससे मेरे साहित्य-सम्बन्धी ज्ञान में भी वृद्धि होती रही है और मेरा दृष्टिकोण भी निखरता रहा है। अपने इन नए निबन्धों में मैंने अपने इस ज्ञान और दृष्टिकोण का भरपूर उपयोग करने का प्रयत्न किया है। अपने इस प्रयत्न में मुझे सफलता मिली है अथवा असफलता, इसका निर्णय करने का अधिकार केवल मेरे पाठकों का है। फिर भी मेरा यह दृढ आत्म-विश्वास है कि मेरा यह नवीन निबन्ध-संग्रह लोकप्रियता प्राप्त करने में समर्थ रहेगा। क्योंकि लिखते समय मैं बेगार नहीं टालता, पूर्ण मनोयोगपूर्वक लिखता हूँ। मेरी क्षमता की अपनी सीमाएँ है। मैंने सर्वथा मौलिक-लेखन का कभी दावा नही किया। मेरे अधिकांश पाठक विद्यार्थी हैं। इसलिए लिखते समय मुझे उनकी सीमाओं और आवश्यकताओं का पूरा-पूरा ध्यान रखना पड़ता है। निबन्ध लिखते समय मैं पहले

उसके विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न करता हूँ। फिर उसके सम्बन्ध में विद्वानों के मत उद्धृत कर उसकी व्याख्या करता हूँ। साथ-साथ उन मतों की समीक्षा भी करता चलता हूँ और अन्त में निष्कर्ष-रूप में अपने विचार और मान्यता को स्पष्ट रूप से व्यक्त कर देता हूँ। इसलिए मुझे विभिन्न मतों का संग्रह-कर्त्ता और मौलिक-लेखक दोनों ही माना जा सकता है।

हिन्दी-साहित्य का इतिहास, आलोचना और काव्यशास्त्र तथा कथा-साहित्य मेरे विशेष प्रिय विषय हैं। इनसे सम्बन्धित विषयों पर लिखते समय मैं अधिक मुखर हो उठता हूँ। इसलिए, सम्भवतः, इनसे सम्बन्धित विषयों के प्रति मेरी ममता अधिक रही है। मेरी दृष्टि में अन्य विषय उपेक्षित तो नहीं हैं, परन्तु उनसे सम्बन्धित मेरे ज्ञान को सीमित ही माना जायेगा। इन विषयों पर मैंने कैसा लिखा है, इसे तो मेरे पाठक ही बता सकेंगे।

अपने इस नवीन निबन्ध-संग्रह में मैंने अनेक प्रकार के नए विषय उठाए हैं, जैसे—साहित्य तथा उसके विभिन्न उपादानों के सम्बन्ध में प्रचलित प्राचीन कवियों के लोकोक्ति बन गए उद्गार, यथा—'कीरति, भनिति, भूति भल सोई', 'गिरा अरथ जल बीचि सम' आदि; नई कविता, नई कहानी आदि; प्राचीन-नवीन प्रतिनिधि कवि और लेखक; शिक्षा, शिक्षा-माध्यम, भावात्मक एकता, सौन्दर्यानुभूति आदि। इनके अतिरिक्त साहित्य के इतिहास तथा काव्य-शास्त्र, रस, रसानुभूति और ऐसे ही अन्य विषयों को अपनाया है। कुछ पुराने विषयों को लेकर उनका पुनर्मूल्यांकन किया है। साहित्य और राजनीति के पारस्परिक सम्बन्धों का भी विवेचन हुआ है। निबन्धों की विषय-सूची देखने पर ही पाठकों को यह पता चल जायेगा कि इस बार मैंने उन विषयों पर ही अधिक निबन्ध लिखे हैं, जिनका समावेश मैं अपने साहित्यिक निबन्ध में नहीं कर पाया था। फिर भी अभी ऐसे अनेक अछूते विषय रह गए है, जिन पर लिखा जाना चाहिए।

निबन्ध लिखना बड़ा श्रमसाध्य काम है। एक निबन्ध लिखने के लिए बहुत अध्ययन तथा चिन्तन-मनन करना पड़ता है। इस कार्य में बहुत समय लगता है और शरीर और मन बहुत अधिक थकावट महसूस करने लगते हैं। इसी निबन्ध-संग्रह को पूरा करने मे लगभग छह महीने लग गए थे। जब मन और शरीर से थोड़ा-सा स्वस्थ हो जाऊँगा, तब ऐसा ही एक और नया निबन्ध-संग्रह लिखने का प्रयत्न करूँगा। निबन्ध लिखने में परिश्रम तो बहुत अधिक करना पड़ता है, परन्तु लिख लेने के उपरान्त मन को उतना ही अधिक सन्तोष और आनन्द भी मिलता है। और यही सन्तोष और आनन्द मेरे जीवन की एकमात्र उपलब्धि है। इससे सांसारिक सुविधाएँ भी थोड़ी-बहुत मात्रा में जुट जाती हैं और पाठकों को यह भ्रम भी बना रहता है कि इन निबन्धों का लेखक एक विद्वान व्यक्ति है। उनके इस भ्रम के सहारे ही मेरी जीविका और लेखनी चलती रहती है। इसलिए उस ऊपर वाले से मेरा इतना ही विनम्र आग्रह है कि मेरे पाठकों के इस भ्रम को बनाए रखे

अब कुछ धन्यवाद-ज्ञापन की भी रीति निभा ली जाय। सबसे पहले तो मैं उन विद्वानों का कृतज्ञ हूँ जिनके ग्रन्थों से मैंने ये निबन्ध लिखने में भरपूर सहायता ली है। उनकी नामावलि इतनी लम्बी है कि स्थानाभाव के कारण उनका व्यक्तिगत उल्लेख न कर पाने के कारण उनके प्रति सामूहिक कृतज्ञता प्रदर्शित करने के लिए बाध्य होना पड़ रहा है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे मित्र भी हैं जिन्होंने नए-नए विषय सुझाए थे, जैसे डा० कुन्दनलाल उप्रेती। कुछ मित्रों के साथ मैं विभिन्न विषयों पर विचार-विमर्श करता रहा था, जैसे डा० रामगोपालसिंह चौहान।

विनोद पुस्तक मन्दिर के अध्यक्ष और मेरे मित्र तथा बन्धु श्री भोलानाथ अग्रवाल का मैं इस दृष्टि से आभारी हूँ कि उन्होंने बार-बार टोक-टोक कर आखिर मुझसे ये निबन्ध लिखवा ही लिए। आजकल उनका स्वास्थ्य ठीक नही चल रहा, यह देख मन को बड़ी वेदना होती है। मेरा और उनका पिछले तीन दशकों से आत्मीय सम्बन्ध और संग-साथ रहा है। दोनों एक-दूसरे को खूब अच्छी तरह समझते हैं, इसलिए उन्हे कष्ट में देख मन और अधिक व्याकुल रहता है। चिरंजीव विनोद (विनोदकुमार अग्रवाल) आरम्भ से ही मेरा स्नेह-भाजन रहा है। इस संग्रह को पूरा कराने में उसका बहुत बड़ा हाथ रहा है। मेरा आशीष उसके साथ है। प्रेस-मैनेजर श्री पूरनसिंह वर्मा का आभारी इसलिए हूँ कि उन्होने इसे इतने सुन्दर रूप में छापा है। श्री जे० के० वर्मा का आभारी इस अर्थ में हूँ कि उन्होंने बड़े मनोयोग के साथ इस पुस्तक के प्रूफ देखे हैं।

पुस्तक छपकर पूरी हो गई है—यह देख मेरे दोनों बच्चे—रश्मि और राजशेखर बहुत प्रसन्न हैं। कामना है वे सदैव ऐसे ही प्रसन्न बने रहे।

अन्त मे, पाठकों से मेरा विनम्र आग्रह है कि इस पुस्तक को पढने के उपरान्त, यदि वे भेजना चाहें तो, अपने अच्छे-बुरे, दोनों प्रकार के मत और सुझाव देने की कृपा करें। इसके लिए मै उन्हें अभी से धन्यवाद दिए दे रहा हूँ। आशा है, वे मेरे इस उधार को चुकाने का कष्ट अवश्य करेंगे, क्योंकि वे कृतघ्न नहीं हैं।

—राजनाथ शर्मा

अनु|क्रम



विशिष्ट
साहित्यिक
निबन्ध

१

नई कविता

- 'नई कविता' किसे कहते हैं ?
- नई कविता का एक और रूप, 'नई' नाम का छद्म, नई कविता और प्रयोगवाद में अन्तर
- साहित्यिक क्षेत्र की प्रतिक्रियाएँ
- नई कविता के दो रूप
- यथास्थितिवाद का समर्थन और विरोध
- आधुनिकता अथवा युग-बोध
- मोह-भंग का उग्र विस्फोट, अस्तित्ववाद की अस्तित्व-चिन्ता
- नई कविता की विशेषताएँ, आधुनिक भावबोध, वैयक्तिकता और सामाजिकता का सामंजस्य, अनुभूतियों की अद्वितीयता और प्रामाणिकता, प्रतीकात्मक और खण्डित बिम्ब-योजना, छन्द-विधान, भाषा और शब्द-चयन, नई कविता और रागात्मकता, लघुता और हीनता को महत्त्व, नई कविता और नव-लेखन
- गतिरोध की समस्या

नई कविता किसे कहते हैं ?

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में 'नई कविता' शब्द बड़ा भ्रमात्मक और विवादास्पद रहा है। इस भ्रम और विवाद का कारण यह था कि सन् १६५० के बाद प्रयोगवादियों ने अपनी काव्य-रचनाओं को 'नई कविता' कहना आरम्भ कर दिया था। क्योंकि उस समय तक 'प्रयोगवाद' नाम काफी बदनाम हो चुका था। हिन्दी के नए-पुराने आलोचकों ने प्रयोगवाद की कटु आलोचना और भर्त्सना करते हुए उसकी खूब छीछालेदर की थी। इसलिए प्रयोगवादी कवि अपनी रचनाओं को 'प्रयोगवादी-कविता' कहने से कतराने लगे थे। 'तार सप्तक' के कवि-सम्पादक अज्ञेय ने जिस प्रकार नए प्रयोगों को ही सर्वाधिक महत्त्व देकर 'प्रयोगवाद' शब्द को जन्म देने में सहायता की थी उसी प्रकार उन्होंने 'नई कविता' शब्द का भी सबसे पहले प्रयोग कर इस शब्द

की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया था। उन्होंने सन् १९५२ में 'नई कविता' शीर्षक से एक ध्वनि-वार्त्ता इलाहाबाद से प्रसारित की थी। यह ध्वनि-वार्त्ता इसी शीर्षक के साथ 'नए पत्ते' नामक मासिक पत्रिका में सन् १९५३ के आरम्भ में प्रकाशित हुई थी। इसके एक वर्ष बाद ही डा० जगदीश गुप्त ने 'नई कविता' शीर्षक के साथ नई प्रयोगवादी कविताओं का एक संकलन प्रकाशित किया था। इसके कई और संकलन भी आगामी कुछ वर्षों में प्रकाशित होते रहे थे।

'नई कविता' नामक इस शीर्षक का प्रयोग करने के कारण लोगों की यह धारणा बन गई थी कि 'प्रयोगवाद' ही 'नई कविता' है। इसलिए प्रयोगवाद से चिढ़े हुए आलोचकों ने इस नई कविता की भी बखिया उधेड़नी आरम्भ कर दी। इससे यह भ्रम और अधिक फैला कि प्रयोगवाद ही 'नई कविता' का बाना धारण कर अपने हाथ-पाँव फैलाने का नया प्रयास कर रहा है। अतः 'नई कविता' शब्द उपेक्षा का पात्र बन गया।

आगे चलकर हिन्दी के अनेक सुधी आलोचकों ने 'नई कविता' शब्द की नई व्याख्या करते हुए कहा कि 'नई कविता' के अन्तर्गत उन सारी काव्य-कृतियों को सम्मिलित कर लिया जाना चाहिए जो देश की आजादी के बाद से लिखी जाती रही हैं। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि आजादी के बाद, विशेष रूप से सन् १९५० के आसपास में, हिन्दी की जो कविता लिखी जाती रही है, उसमें किसी वाद-विशेष का प्राधान्य न रह कर, उसमें पूर्व तथा समकालीन प्रचलित विचारधाराओं और काव्य-पद्धतियों के मिले-जुले रूप ही अधिक उभरे हैं। उसमें शुभ-अशुभ, व्यक्तिवादी-समाजवादी आदि सभी प्रकार की कविताओं के नानाविधि-रूप मिल जाते हैं। यह हिन्दी की कविता का एक ऐसा नया रूप है जो एक ओर तो परम्परा से अपना सम्पर्क बनाए है और दूसरी ओर परम्परा को नकारता भी रहा है। उसमें सामयिक उफान भी आता रहा है और वह गम्भीरता भी धारण करती चली है। उसमें छायावादी, प्रगतिवादी, प्रयोगवादी, अस्तित्त्ववादी, नकारवादी आदि विभिन्न प्रवृत्तियाँ अपने पुराने तथा नए दोनों रूपों में उभरती रही हैं। उसमें मुक्तककाव्य, प्रबन्धकाव्य तथा गीतिकाव्य सभी कुछ लिखा जाता रहा है और आज भी लिखा जा रहा है। समष्टि रूप से 'नई कविता' उसे कहा जा सकता है जो सन् १९५० से लेकर आज तक लिखी जाती रही है। वह अपनी पूर्ववर्ती विभिन्न काव्यधाराओं से इस अर्थ में भिन्न है कि यह कविता संश्लेषण और सामंजस्य की कविता है, न कि द्वन्द्व और विरोध की। एक ही कवि कभी-कभी व्यक्तिवादी और समाजवादी, दोनों ही प्रकार की कविताएँ लिखता है और बहुत सुन्दर लिखता है। दोनों में बनावट न होकर यथार्थ अभिव्यक्ति का सुन्दर रूप मिलता है। इसी कारण आजादी के बाद लिखी जा रही हिन्दी-कविता को वादों में विभाजित कर नहीं देखा जा सकता। उसके **केवल दो ही रूप मिलते हैं—व्यक्तिवादी और समाजवादी।**

नई कविता का एक और रूप

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी सन् १९३५ के बाद रची जाने वाली विभिन्न पद्धति की नई कविताओं को 'नई कविता' मानते और कहते थे। उन्होंने बच्चन और अचल की नई शैली की कविताओं को 'नई कविता' कहा। वाजपेयीजी ने यह बात सन् १९४५ में कही थी। अर्थात् वाजपेयी जी ने ही सबसे पहले 'नई कविता' शब्द का प्रयोग किया था। वे बच्चन को इस नई कविता का प्रणेता मानते थे। उन्होंने लिखा था—

"न बच्चन की कविता में द्विवेदी-युग के काव्य की निर्वैयक्तिकता है, और न इनकी भाषा में द्विवेदी-युग की भाषा का-सा अनगढ़ स्वरूप।....हिन्दी काव्य में बच्चन के आगमन से एक नई काव्य-शैली की प्रतिष्ठा होने लगी, जिसकी एक विशेषता यह थी कि उसकी भाषा अधिक व्यावहारिक, अधिक लोक-प्रचलित और सुगम-सुलभ थी।"

वाजपेयी जी बच्चन और अंचल को प्रकृतिवादी कवि मानते थे। और प्रकृतिवाद में वैयक्तिक इन्द्रियानुभूति अभिव्यक्ति पाती है। वाजपेयी जी ने इस नई शैली की कविता को यथार्थवादी माना था—भाषा, शैली और कथ्य, सभी रूपों मे। उन्होंने इसके इसी यथार्थवादी रूप से आशान्वित होकर लिखा था—

"नई कविता अभी अपनी निर्माणावस्था में है। एक आवर्त उठ चुका है, जो निश्चय ही छायावादी आवर्त से प्रकृत्या भिन्न है। इसके निर्माण के लिए छाया-वादी काव्य-परम्परा का त्याग आवश्यक होगा।....नई कविता छायावादी कल्पना-प्रवणता के स्थान पर यथार्थवादी पद्धति को अपना रही है। काव्य में यथार्थवाद अथवा बाह्यार्थवाद की योजना एक शैली के रूप में स्वागत योग्य है। हमारा काव्य इस नवीन शैली को अपना कर विकास की नई दिशा में चल रहा है।"

—आधुनिक साहित्य : नई कविता।

द्रष्टव्य है कि वाजपेयी जी ने यह बात सन् १९४५ के आसपास उस समय कही थी जब प्रयोगवादियों के प्रथम काव्य-संग्रह 'तार सप्तक' का प्रकाशन हो चुका था। प्रयोगवादी भी स्वयं को यथार्थवादी कहते थे, उस अर्थ में नही जिस अर्थ मे प्रगतिवादी स्वयं को यथार्थवादी घोषित करते थे। वाजपेयी जी ने प्रयोगवाद के सम्बन्ध मे लिखा था—

"कुछ समय पश्चात् बच्चन और अंचल की प्रगाढ़ वैयक्तिकता और प्रकृति-वादी प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया भी हुई, और हिन्दी कविता में कुछ नवीन प्रयोग आरम्भ हुए, जिनमें व्यक्तिवाद से ऊपर उठने का लक्ष्य दिखाई दिया। इन प्रयोगों में हल्की व्यंग्यात्मकता, उपहास की वृत्ति, तटस्थ और मार्मिक वस्तु-चित्रण तथा छन्द-रहित और लय-रहित गद्यात्मक भाषा-योजना की विशेषताएँ हैं। 'तार सप्तक' नामक सग्रह-पुस्तक में इन समस्त प्रवृत्तियों के एक साथ दर्शन होते हैं। स्वभावतः इन प्रयोगों में वास्तविक भाव-योजना के स्थान पर शैली सम्बन्धी विलक्षणता अधिक

दिखाई दी। निश्चय ही यह प्रयोगावस्था की रचना है और इसमें किसी सुनिश्चित काव्यादर्श अथवा भाव-धारा की सृष्टि नहीं हो पाई।''

—नई कविता : आधुनिक साहित्य

इस प्रकार वाजपेयी जी प्रयोगवादी-काव्य को नई कविता का एक निकृष्ट अंग मानते थे। उनके अनुसार नई कविता बच्चन-अंचल की नई यथार्थवादी भाषा और शैली तथा अनुभूति की निश्छलता का आधार ग्रहण कर विकसित हो रही थी। वह छायावादी कल्पना-प्रवण तथा प्रगतिवादी गद्यात्मक पद्य-शैली से भिन्न एक ऐसी नई यथार्थवादी-शैली को अपना कर चल रही थी जो लोक में अधिक प्रचलित तथा स्वाभाविक थी। हिन्दी की वह कविता, जिसे आज 'नई कविता' कहा जाता है, बच्चन आदि के उसी काव्य-शैली का अधिक विकसित और परिपक्व रूप है। हिन्दी की इस नई कविता में अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति की ईमानदारी है। उसमें नए प्रयोग भी हैं, परन्तु वे केवल प्रयोग के लिए ही न होकर अभिव्यक्ति को अधिक सशक्त, अधिक व्यंजक, अधिक स्पष्ट और प्रभावशाली तथा यथार्थ बनाने के लिए ही किए जाते हैं।

साहित्य में कोई भी नई धारा एकाएक अचानक उत्पन्न नही हो जाती। उसके पीछे विचारों-भावों का एक लम्बा उद्वेलन अपना इतिहास समेटे रहता है। नई धारा किसी प्रतिक्रिया का ही प्रतिफलन होती है। नई परिस्थितियाँ प्रतिक्रिया को जन्म देती है, इसलिए उस प्रतिक्रिया का आधार यथार्थपरक रहता है। जब हम परिस्थितियों की उपेक्षा अथवा अवहेलना कर, केवल चौंका कर चर्चित होने के लिए कोई नया काम करने लगते हैं, तो वह जादूगर अथवा विदूषक की विचित्र हरकतों के समान अपना क्षणिक रूप और प्रभाव दिखाकर समाप्त हो जाता है। हिन्दी-प्रयोगवाद के साथ ऐसा ही हुआ था। अपनी अस्तित्व-रक्षा के लिए उसने 'नई कविता' का छद्म धारण कर जीवित रहना चाहा था। परन्तु हिन्दी की नई कविता ने उसके इस छद्म का पर्दाफाश कर दिया था। प्रयोगवादी-कवि अपने अस्तित्व की रक्षा करने में तभी समर्थ हो सके थे, जब उन्होंने अपने युग के यथार्थ को स्वीकार कर उसे अभिव्यक्ति देना आरम्भ किया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सन् १९५० के आसपास हिन्दी की नई कविता का जो रूप उभरता दिखाई देता है, उसकी नींव बीसवीं सदी के चौथे दशक में ही पड़ चुकी थी। बीच में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद ने उसे अपने-अपने खेमे मे बाँधना चाहा था। परन्तु इन खेमों के अपने-अपने बन्धन और सीमाएँ थीं जो अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता पर अंकुश लगाती थीं। इन दोनों खेमों मे परस्पर तीव्र संघर्ष चल रहा था। इसलिए नई कविता इन दोनों के बीच स्वाभाविक अभिव्यक्ति का मार्ग खोज रही थी। और अपने इस प्रयत्न में उसे सफलता मिली देश की आजादी के बाद। उस समय से लेकर आज तक हिन्दी की नई कविता व्यक्ति और समाज दोनों को

अपने भीतर समेटे, नए युग की नई परिस्थितियों के प्रभाव ग्रहण करती हुई स्वच्छन्द गति से चलती चली आई है ।

'नई' नाम का छद्म

हिन्दी के अधिकांश आलोचकों की यह धारणा रही है कि 'नई कविता' नाम का सबसे पहले प्रयोग अज्ञेय ने किया था; परन्तु, जैसा कि हम पीछे बता आए है, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी इस शब्द का प्रयोग काफी पहले अत्यन्त सार्थक रूप मे कर चुके थे। अज्ञेय ने इस शब्द का प्रयोग प्रकारान्तर से प्रयोगवादी कविता के लिए ही किया था। और उसके बाद ही प्रयोगवादियों ने अपनी रचनाओं के लिए इस शब्द का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया था। इस नए नाम में नवीनता का एक अपना आकर्षण था। इसी कारण हिन्दी के कुछ नए कहानीकारों ने अपनी कहानियो को 'नई कहानी' की सज्ञा प्रदान कर अपनी नवीनता के ढोल पीटने आरम्भ कर दिए थे। वस्तुतः इस तथाकथित 'नई कविता' और 'नई कहानी' के झण्डाबरदारो की मानसिकता मे कोई अन्तर नही था। दोनो ही प्रगतिशीलता का मुखौटा लगाए, पूर्व-परम्परा को नकारते हुए, एक नितान्त नवीन और मौलिक साहित्य के सृजन का दावा कर रहे थे। यह 'नई' का विशेषण किसने किससे लिया था, यह महत्त्व का विषय नही है। स्थिति 'चोर-चोर मौसेरे भाई' की थी। दोनों ने ही अपने-अपने अभूतपूर्व कृतित्व के ढोल पीटते हुए यह दावा किया था कि उनसे पूर्व का रचित सारा साहित्य सामान्य और घोर परम्परावादी था। उन्होंने उस यथास्थिति के गतिरोध को भंग कर नवीन साहित्य का सृजन किया है। परन्तु इतिहास साक्षी है कि समय ने इन ढोल पीटने वालों को स्वस्थ मार्ग से एक ओर धकेल, स्वस्थ साहित्य के लिए, रास्ते के कांटे हटा दिए थे। और हिन्दी की कविता तथा कहानी युग की आशा-आकांक्षाओं को व्यक्त करती स्वस्थ गति से बढ़ती रही थी। 'नई' का छद्म नाम उनकी अधिक सहायता करने में असमर्थ रहा था।

साहित्य में जब-जब प्रचार का सहारा लिया गया है, उसकी स्वाभाविक स्वच्छन्द गति में बाधा पडी है, उसमें प्रदर्शन का चमत्कार बढ़ा है और उथलापन आया है।

नई कविता और प्रयोगवाद में अन्तर

नई कविता अपने रूप और स्वर में प्रयोगवाद से सर्वथा भिन्न रही है। नई कविता में अभिव्यक्ति और रूप की स्वाभाविकता रही है और प्रयोगवाद में कृत्रिमता। डा० शम्भूनाथ सिंह ने नई कविता का विश्लेषण करते हुए लिखा है—

"'नई कविता' नाम के पीछे एक इतिहास है। सन् १९४३ में जब इस प्रकार की नए ढंग की कविताएँ अज्ञेय के सम्पादकत्व में 'तार सप्तक' मे संकलित हुईं, तो उनके रूप-शिल्प-सम्बन्धी नए प्रयोगों को देखकर तथा कवियों द्वारा प्रयोग शब्द के बार-बार व्यवहार को ध्यान में रखकर हिन्दी के कतिपय आलोचकों ने इस नई काव्य-प्रवृत्ति का नाम ही प्रयोगवाद रख दिया। किन्तु बिना समझे-बूझे दिया गया यह नाम सार्थक था क्योंकि इस प्रकार की कविताओं में प्रयोग की प्रवृत्ति काफ

श्यकता से अधिक थी। इन कवियो के लिए प्रयोग साधन नही, साध्य बन गया था। सन् १९५० के बाद प्रयोग की प्रवृत्ति कम होती गई। साथ ही इस काव्यधारा के भीतर जो अतिशय प्रतिक्रिया की भावना वर्तमान थी, वह भी धीरे-धीरे कम होती गई।

"यद्यपि नई कविता में भी प्रयोग करने की प्रवृत्ति वर्तमान है, किन्तु उसमे कुछ ऐसी निजी विशेषताएँ भी हैं जिनके कारण वह अपने ठीक पूर्व की प्रयोगवादी कविता से एकदम भिन्न है। प्रयोगवाद और नई कविता में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि प्रयोगवाद द्वन्द्व और प्रतिक्रिया की कविता है किन्तु नई कविता संश्लेषण और सामंजस्य की कविता है। यद्यपि प्रयोगवाद की भाँति नई कविता में भी क्रान्तिकारी भावना वर्तमान है, किन्तु इस क्रान्ति की दिशा निर्धारित और लक्ष्य निर्दिष्ट है। वह लक्ष्य है—सभी प्रकार के धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और सास्कृतिक बन्धनों, रूढ़ियों, वर्जनाओं और आरोपित मान्यताओं से मानव की मुक्ति। नई कविता की जो नई दिशा खुली है, उसमे व्यक्ति की आत्मानुभूति से उद्भूत विवेक अथवा स्वयंप्रभा ज्ञान ही उसका पथ-प्रदर्शक है।"

—समसामयिक हिन्दी साहित्य : कविता।

अज्ञेय ने भी सन् १९५२ में आकाश वाणी से प्रसारित अपनी ध्वनि-वार्ता मे नई कविता के सम्बन्ध में कुछ ऐसी बातें कही थी जो नई कविता को प्रयोगवाद से भिन्न सिद्ध करती है। अज्ञेय की 'नई कविता' शीर्षक उस ध्वनि-वार्ता के कुछ अंश द्रष्टव्य है—

"…… हम प्रयोगशील, प्रगतिशील आदि नहीं कहना चाहते। इसी से कहते है—नई कविता; क्योंकि प्रगतिवाद राजनीतिक बिल्ला है और प्रयोगवाद आक्षेप। नई कविता नई मनःस्थिति का प्रतिबिम्ब है, एक नए मूड का, एक नए राग-सम्बन्ध का। नई कविता की मूल विशेषता है मानव और मानव-जाति का नया सम्बन्ध और वह मानव-जाति और सृष्टि मात्र के सम्बन्ध के परिपार्श्व में। ……लोकगीतों या लोकधुनो की ओर झुकाव—यह उसकी बहुत महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है, कारक चाहे राजनीति का जनवाद हो, चाहे अधिक आसान्न या अधिक गहरी प्रतिक्रिया उत्पन्न करने वाले रूपाकारों की खोज।"

यहाँ अज्ञेय नई कविता की केवल एक ही विशिष्टता—लोकगीतों या लोक-धुनों की ओर झुकाव—की ओर संकेत करते हुए उसे प्रगतिवाद और प्रयोगवाद—दोनों काव्य-धाराओं से काट, नए रूपाकारों की खोज मात्र मानते हैं। बात वही रही—प्रयोगवादी। डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने एक बड़े पते की बात कही है—"प्रयोग-वादी उसे कहते थे जो प्रगतिशील साहित्य पर आक्रमण करने में समर्थ हो सके।" प्रयोगवादी भरसक यही कार्य करते रहे थे। परन्तु आजादी के साथ ही बदलती परि-स्थितियाँ तथा उनसे प्रभावित हिन्दी का नया कवि अधिक ईमानदारी और स्वानुभूति का सम्बल ग्रहण कर काव्य क्षेत्र में उतर रहा था। उसे न तो प्रगतिवाद की अत्यधिक

प्रचारशीलता पसन्द थी और न प्रयोगवादियों की अत्यधिक प्रयोगशीलता ही। यहीं से हिन्दी की नई कविता ने एक भिन्न और मौलिक पथ अपनाना आरम्भ कर दिया था जिसमें अनुभूति की ईमानदारी सबसे पहली शर्त थी। यह देख अज्ञेय ने उन्हें पुन अपनी गिरफ्त में लेने का प्रयत्न करते हुए उनका मार्ग-दर्शन करने का प्रयत्न किया था। उन्होंने 'नया कवि : आत्म स्वीकार, नया कवि : आत्म उपदेश' शीर्षक कविताएँ लिखीं। डा० त्रिगुणायत का कहना है कि इससे क्षुब्ध और नाराज हो एक नए कवि ने अज्ञेय को उत्तर दिया था कि—

'हमें प्रतीक्षा न थी तुम्हारे आवाहन की,
हम आए आवाहन के पूर्व ही।
नए भिन्न पथ से, जो तुम्हें अज्ञात था,
आह, यह हमारा दोष नहीं था—
कि सूर्य की तरह अभिमानी होकर भी,
तुम असमय अस्त हो गए।'

उपर्युक्त पंक्तियों से भी यही ध्वनि निकलती है कि नई कविता प्रयोगवाद से भिन्न एक नया रूप और स्वर धारण कर आगे बढ़ रही थी। अब हमें संक्षेप में उन परिस्थितियों पर भी एक नज़र डाल लेनी चाहिए जिन्होंने नई कविता को जन्म दिया था।

आजादी की दो प्रकार की प्रतिक्रिया

भारत १५ अगस्त सन १९४७ को आज़ाद हुआ था। भारत की जनता ने इस आजादी से बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँध रखी थीं। परन्तु यह आजादी हमे बड़ी मँहगी कीमत पर मिली थी—अंग्रेजों ने देश को दो टुकड़ों में विभाजित कर आजादी दी थी। और उससे पहले ही सारे देश में हिन्दू-मुस्लिम दगों, लूटमार, आगजनी आदि का भयंकर ताण्डव आरम्भ हो गया था। लाखों-करोड़ों इन्सान अपना सब-कुछ लुटा-कर हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में शरण पाने के लिए भटकते फिरे थे। इस भयंकर स्थिति ने हमारी नई सरकार को विषम स्थिति में डाल दिया था। जनता का आजादी पाने का उल्लास बहुत कम हो गया था। फिर भी उसे यह आशा बनी रही कि इस तूफान के गुजर जाने के बाद जन-जीवन सामान्य हो जायेगा और हमारे नेता सामान्य-जन के दुःख-दर्द और अभावों को दूर करने का प्रयत्न करेंगे।

परन्तु जब देश-विभाजन से उत्पन्न अराजकता, समस्याएँ आदि सरकार ने दूर कर ली और फिर भी देश की सामान्य जनता की न तो कोई समस्या ही हल हो पाई, और न उसे सुख-चैन ही मिला, तो चारों ओर एक नए विक्षोभ की भावना उठने लगी। हमारे नए शासकों ने पाश्चात्य-जगत का अन्धानुकरण करते हुए, विदेशों से कर्ज ले-लेकर जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करना आरम्भ कर दिया, जिसके कारण मँहगाई दिनोंदिन बढती चली गई। सामान्य-जन की आमदनी मे कोई वृद्धि नही हुई, इसलिए इस निरन्तर बढती चली जाने वाली मँहगाई ने उनके जीवन-

निर्वाह को और भी अधिक दूभर बना दिया। सामान्य जनता ने महसूस किया कि इस आजादी से उसे कुछ भी नहीं मिला है, बल्कि उसके कष्ट बढ़े ही अधिक हैं। शासन के स्तर पर केवल यही परिवर्तन हुआ है कि पहले के गोरे साहब को हटाकर 'काला साहब' गद्दी पर आ बैठा है। शासन-नीति अब भी वही है, जो अंग्रेजी-शासन के जमाने में थी।

देश के नए शासकों ने अंग्रेजी-जमाने की उस नौकरशाही को यथावत् कायम रखा था, जो जन्म से भारतीय परन्तु रहन-सहन, संस्कार, दृष्टिकोण आदि से पूरी अंग्रेज थी। जनता के साथ उसका दृष्टिकोण शासक और प्रजा का था। सरकारी कायदे-कानून भी वही पुराने बने रहे। नौकरशाह जन-सामान्य को हेय, उपेक्षित और डण्डे के जोर से काबू में रखने के सिद्धान्त में यथावत् विश्वास करते रहे। खेती की उपेक्षा की गई और बड़े-बड़े कल-कारखाने स्थापित किए जाते रहे। परिणाम यह निकला कि हमें विदेशों से, उनकी मनमानी शर्तों और कीमतों पर अनाज खरीद कर अपना पेट भरना पड़ा। कल-कारखानों की स्थापना से देश को यह लाभ तो अवश्य हुआ कि सारी चीजें, जो पहले विदेशों से मँगाई जाती थीं, अपने देश में ही बनने लगीं। इस देशव्यापी औद्योगीकरण का परिणाम यह निकला कि मजदूर और किसान तथा सामान्य-जन का एक नए और सुव्यवस्थित ढंग से अबाध शोषण होने लगा। समष्टि रूप से, आजादी से हमारे देश में केवल एक ही परिवर्तन आया कि इस नए देशी-शासन के अन्तर्गत देशी पूंजीपति खूब फूल-फल रहे थे, शासन-तंत्र उनके संकेतों पर नाचता रहता था और सामान्य जनता दिनोंदिन अधिकाधिक गरीब होती चली जा रही थी।

यह भारतीय जनता के मोह-भंग की पहली स्थिति थी। वह पहले से भी अधिक दुखी, शोषित और पीड़ित थी। जनता की आवाज उठाने वाले राजनीतिक दलों पर शासक कांग्रेस ने प्रतिबन्ध लगा दिए थे। समाजवादियों को कांग्रेस छोडने को मजबूर कर दिया गया था और साम्यवादी-दल गैरकानूनी घोषित कर दिया गया था। इस प्रकार आजादी के बाद जन-सामान्य की दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ सामने आईं—पहली, क्षणिक उल्लास की; दूसरी, निराशा, क्षोभ और आक्रोश की।

साहित्यिक-क्षेत्र की प्रतिक्रियाएँ

साहित्य जन-मानस का प्रतिबिम्ब होता है। साहित्यकार समाज का कुछ अधिक जागरूक अंग होने के कारण अपनी रचनाओं में प्रायः जन-मानस को ही अभिव्यक्ति प्रदान करता है। इसी कारण हम आजादी के बाद लिखे जाने वाले साहित्य में उपर्युक्त सामाजिक प्रतिक्रियाओं को ही अभिव्यक्त होता हुआ पाते हैं। उसमें क्षणिक उल्लास भी मुखरित हुआ है और फिर निराशाजनित क्षोभ और आक्रोश भी। उस युग का साहित्यकार इन दोनों ही स्थितियों का भोक्ता रहा था इसलिए उसके साहित्य

मे इन दोनों की अभिव्यक्ति पाना नितान्त स्वाभाविक था। समष्टि रूप से, साहित्यिक क्षेत्र में इस स्थिति की दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ दिखाई दीं। आजादी मिल जाने के बाद भी अपने उज्ज्वल भविष्य की आशाएँ पूरी न होने पर कुछ नवयुवक निराश हो, विद्रोह की भावना से भर उठे। उन्होंने शासन-तंत्र, परम्परा, समाज-व्यवस्था आदि सभी के विरुद्ध उश्रृंखल और लक्ष्यहीन विद्रोह करना आरम्भ कर दिया। इस विद्रोह-भावना ने इन नवयुवकों में अनुशासनहीनता, शासन के प्रति क्षोभ, हीन-भावना, अनैतिकता, अनास्था, वैयक्तिकता आदि पतनशील कुण्ठाओं तथा प्रवृत्तियों को उत्पन्न कर दिया और वे अपनी रचनाओं में उन्हीं को अभिव्यक्त करने लगे। यह विद्रोह का कुण्ठावादी रूप था, जिसे प्रयोगवादी-कवियों और उनके सरक्षकों ने बढ़ावा देना आरम्भ कर दिया। यह निराश व्यक्तियों का विद्रोह था।

इसके विपरीत कुछ नवयुवा साहित्यकारों का एक दूसरा वर्ग ऐसा सामने आया जो अपनी और जन-सामान्य की संगठित शक्ति में अटूट आस्था रखता था। वह सड़े-गले पुरातन और विषम वर्तमान का विध्वंस कर एक ऐसे समाजवादी-समाज की स्थापना का स्वप्न देखता था जिसमें किसी भी प्रकार की विषमता और शोषण न हो, जिसमें सब सुखी और सन्तुष्ट हों। इन लोगों द्वारा रचे गए साहित्य में नव, स्वस्थ निर्माण के प्रति आस्था से भरे नए स्वस्थ स्वर मुखरित हो रहे थे। ये नए स्वर नए जीवन-मूल्यों, व्यावहारिक आदर्शों, नए युग-बोध और नई संस्कृति तथा शोषण-हीन नए समाज की स्थापना की आशा और उत्साह से भरे हुए थे। यह नया स्वर प्रगतिवादी पुराने स्वर का ही अधिक यथार्थ, अधिक सशक्त और अधिक कलात्मक प्रभावशाली रूप था। इसकी चेतना उतनी राजनीति से प्रेरित नहीं थी जितनी कि जीवन की विषमताओं से अनुभूत। इसी कारण इसमें अभिव्यक्ति की ईमानदारी थी और प्रभावित करने की अधिक शक्ति भी। यह नया साहित्य समाज मे एक नई सामूहिक चेतना उत्पन्न कर रहा था। इसका 'व्यक्ति' सामाजिक चेतना के विकास में ही अपने व्यक्तित्व का विकास होता देखता था। इसने नई चेतना के साथ भाषा, शैली, छन्द आदि के स्वस्थ-सुबोध प्रयत्न किए थे। यह नई कविता का स्वस्थ पक्ष था।

इस प्रकार, इस युग में, काव्य के क्षेत्र में ये दोनों धाराएँ साथ-साथ प्रवाहित होती रही है। इनके साथ ही पुराने आदर्शवादी-परम्परावादी तथा छायावादी कवि भी बराबर काव्य-रचना करते रहे। इस प्रकार हिन्दी की यह नई कविता राजनीतिक और पूँजीवादी पूर्वाग्रहों से बहुत-कुछ मुक्त रहती हुई जन-जीवन को यथार्थ अभिव्यक्ति प्रदान करती रही है।

नई कविता के दो रूप

जैसा कि हम पीछे बता आए हैं, नई कविता युग की नवीन परिस्थितियों से प्रभावित हो स्वस्थ और अस्वस्थ, दोनों रूपों मे विकास करती आई है। उसका शुभ

पक्ष भी ऊपर उभर कर आया है और अशुभ पक्ष भी। उसमें अभिव्यक्ति की ईमानदारी भी रही है और दूसरों का अनुकरण करने की प्रवृत्ति भी। डा० प्रेमप्रकाश गौतम के शब्दों में इसके ये दोनों रूप इस प्रकार प्रस्तुत हैं—

उपलब्धियाँ—"निस्सन्देह नई कविता की अपनी उपलब्धियाँ भी है। इस शैली की बहुत-सी रचनाओं में अपना विशिष्ट सौन्दर्य है। काव्य के विषय-क्षेत्र और काव्य-वस्तु का विस्तार, व्यापक गतिशील सौन्दर्य-दृष्टि, आधुनिकता की चेतना, 'घटित होते हुए' के प्रति सजगता और उसे आत्मसात कर प्राप्त नया भाव-बोध, सच्ची अनुभूति का आग्रह (यद्यपि यह बहुत कम कवियों मे है, अधिकांश में अनुकरण और फैशन की प्रवृत्ति है), वस्तु-व्यंजनापरक नए प्रकृति-चित्र, मार्मिक व्यंग, यत्र-तत्र लोककाव्य की सरसता, नवीन वस्तु-व्यंजना, पुरानी कथाओं द्वारा नए अर्थों की अभिव्यक्ति, नवीन अनुभूति के प्रकाशन मे समर्थ नए बिम्बों, चारों ओर के जीवन और अतीत के लिए प्रतीकों और उपमाओं का उपयोग, पूर्ण क्रियाशील बिम्ब, शब्दों के संघटित मूर्त्त बिम्ब का विधान, शब्दों को नए अर्थ-संस्कार देकर भाषा की व्यंजना शक्ति का विकास, उसे लोकभाषा के निकट लाने तथा अधिकाधिक सजीव तथा अभिव्यक्ति-समर्थ बनाने का यत्न, मुक्त छन्द को आवश्यकतानुसार नए-नए मोड़ देकर उसका अनेक प्रकार से विकास, कुछ नए काव्य-रूपों का उद्भव—यह सब नई कविता का उज्ज्वल पक्ष है।

निर्बलताएँ—"परन्तु रागात्मकता और साधारणीकरण की उपेक्षा, अतिरिक्त बौद्धिकता, उग्र व्यक्तिवाद, अनिश्चित जीवन-दृष्टि, सांस्कृतिक सम्पत्ति और विराट कल्पना का अभाव, अपनी ही मनःस्थिति को (जो प्रायः अनास्था, निराशा, कुण्ठा और घुटन की है) युगसत्य घोषित करना, सौन्दर्य-असौन्दर्य की भेदक-रेखा मिटा देना, साम्प्रदायिकता की प्रवृत्ति, आधुनिकता, अरोमानी सृष्टि, लघुता, अवचेतन और क्षणवाद पर आवश्यकता से अधिक बल; क्षणिक अनुभूति में अधिकाधिक आयाम अन्वेषित करने का आग्रह, अनुभवमान क्षण की व्यंजना-चेष्टा, विभक्त सम्वेदना और मुक्त आसंगविधि, बिम्ब-संक्षिप्तता और शब्द-संकोचन—भग्न बिम्ब जैसे खण्डबिम्ब, बिम्बविधान को ही साध्य मान लेना, अस्पष्ट दुर्ग्राह्य प्रतीक और अनुपयुक्त विचित्र उपमान, कथ्य और अभिव्यक्ति का प्रायः अव्यवस्थित, असमर्थ और अकाव्यात्मक होना, छन्द-रचना की असामर्थ्य तथा आरोपित लय, और इन सबके साथ नवीनता का अत्यधिक मोह—ये सब इस धारा की निर्बलताएँ है।"

—नई कविता : पुनर्विचार

यथास्थितिवाद का समर्थन और विरोध

नई कविता की उपर्युक्त उपलब्धियों और निर्बलताओं का कारण उन परस्पर-विरोधी विचारधाराओं के पारस्परिक टकराव में छिपा हुआ था जो सारे विश्व मे परस्पर टकरा रही थीं। ये दो विचारधाराएँ थीं समाजवादी और पूँजीवादी

पूँजीवाद यथास्थिति का समर्थक होता है। वह प्राचीन परम्परा, प्राचीन जीवन-मूल्यों आदि की दुहाई देता हुआ ऐसे साहित्य का समर्थन करता है जो मनोरंजक हो, नए-नए कला-रूपों से सज्जित हो, जिसमें परम्परा, धर्म, संस्कृति, सभ्यता आदि के परम्परागत रूपों और मूल्यों के प्रति गहरी आस्था की व्यंजना हो। साहित्य और राजनीति में इसे ही 'यथास्थिति' कहा जाता है। यह परिवर्तन की, किसी भी प्रकार के परिवर्तन की घोर विरोधी विचारधारा है। क्योंकि इसी में पूँजीवाद का स्वार्थ निहित रहता है। यह विचारधारा हिंसा, आन्दोलन, अधिकारों की माँग आदि का विरोध करती है। क्योंकि व्यापार शान्ति-काल में ही अधिक पनपता और फैलता-फूलता है।

इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है। एक बार भारत के प्रसिद्ध पूँजीपति टाटा की नगरी जमशेदपुर में 'संघर्षशील आदमी के साहित्य का सौन्दर्य-शास्त्र क्या है और हिंसा क्या है'—इस विषय पर एक विचार-गोष्ठी हुई थी। उसमें भाषण देते हुए, टाटा के एक प्रतिनिधि श्री रामसिंहासन पाण्डे ने कहा था—"आज का साहित्य हिंसा फैलाता है, बदअमनी पैदा करता है ''यह साहित्य नौजवानों को भड़का कर आगजनी करवाता है, मिलों और फैक्टरियों को बन्द करके सारी अर्थ-व्यवस्था को नष्ट-भ्रष्ट करने पर तुला हुआ है। ''''हमारे इन ग़ैर-जिम्मेदार लेखकों के पास कोई आदर्श नहीं है, चरित्र नहीं है और ये देश को बरबाद करने पर उतारू है। ''''हमारा आदर्श है—विवेकानन्द, योगी अरविन्द और गांधीजी। इस वक्त जो सबसे बड़ी जरूरत है, वह है हिंसा को रोकने की। समाज और उसके विचारों को विकास के लिए शान्तिपूर्ण समय देने की, उत्पादन बढ़ाने की। हमारा साहित्यकार यही भूमिका अदा करता रहा है। परन्तु आज का नया लेखन भयावह अहिंसा की भावना से ग्रस्त है। इसीलिए वह निर्माण का लेखन न होकर दिशाहीन ध्वंस का लेखन हो गया है और आज का पाठक उसे पढ़ने में रुचि नहीं रखता, क्योंकि वह बेमानी, रूखा और ग़ैर-जिम्मेदार है।"

श्री पाण्डे का उपर्युक्त वक्तव्य साहित्य के प्रति पूँजीवादी दृष्टिकोण को पूरी तरह स्पष्ट कर देता है। अपने श्रम का उचित मुआवजा माँगना, जीवन-निर्वाह के लिए नितान्त जरूरी चीजों की माँग करना, पूँजीपति की दृष्टि में अक्षम्य अपराध और घोर हिंसा है। जो साहित्य शोषित-पीड़ित जनता की यथार्थ दशा का चित्रण करता है और उसकी इन माँगों का समर्थन करता है, वह साहित्य पूँजीवाद की दृष्टि में 'बेमानी, रूखा और ग़ैर-जिम्मेदार' होता है।

आज स्थिति यह है कि ऐसी विचारधारा वाले इस पूँजीवाद और उसके समर्थक ऐसे चाटुकार (जिन्हें आज की भाषा में 'चमचे' कहना अधिक अच्छा है) साहित्यकारों ने देश को इस स्थिति में ला पटका है कि चारों ओर भयानक त्राहि-त्राहि मची हुई है सामान्य जनता का जीवन दूभर हो उठा है। जनता को खाने को अन्न और तन ढाँकने को कपड़ा तक नहीं मिलता। हमारी

पूँजीपतियों से डरती है। क्योंकि राजनीतिक दलों को मँहगा चुनाव लड़ने के लिए पूँजीपति ही पैसा देते हैं। ऐसी स्थिति में यदि देश की जनता में असन्तोष और हिंसा की उग्र भावना भर उठी है, तो इसका जिम्मेदार कौन है? आज साहित्य में उसी असन्तोष और उग्र हिंसक भावना को सशक्त अभिव्यक्ति मिल रही है। नई कविता का बहुत बड़ा भाग इसी भावना से आक्रान्त है, जिसे नितान्त स्वाभाविक और यथार्थ माना जाएगा।

आधुनिकता अथवा युग-बोध

आज नई कविता को लेकर प्रायः यह कहा जाता है कि नई कविता आधुनिकता अथवा युग-बोध की कविता है। अर्थात् उसमें वर्तमान युग अपने सम्पूर्ण परिवेश के साथ प्रतिबिम्बित हो रहा है। इसलिए पहले हमें इन दोनो शब्दों का अर्थ समझ लेना चाहिए। आज समाजवादी और पूँजीवादी—दोनों ही विचारधाराओ के साहित्यकार अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार 'आधुनिकता' को परिभाषित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस सदी के आरम्भ से ही भारतीय-समाज मे परिवर्तन की तीव्र प्रक्रिया होनी आरम्भ हो चुकी थी। तब से लेकर परिवर्तन की यह प्रक्रिया निरन्तर गतिशील रही है। नए औद्योगिक-तंत्र ने पुराने समाज और सस्कृति को अपने अनुकूल ढालने के लिए नई समाज-व्यवस्था और नए मूल्यों का सृजन किया है। पुराने और नए के इस संघर्ष ने हमारी पुरानी परम्परागत समाज-व्यवस्था को जड़ से हिला डाला है। इस संघर्ष ने संशय, अनास्था और अलगाव की भावना बढ़ाई है। यह सघर्ष हिन्दी के नवलेखन में मुखरित हो रहा है। समष्टि रूप से आज समाज का आधुनिकीकरण बड़ी से तेजी से किया जा रहा है जिसका मूलाधार औद्योगिक-सभ्यता का नया रूप है।

संक्षेप में, 'आधुनिकीकरण' और 'आधुनिकता' में अन्तर होता है। आधुनिकीकरण का सम्बन्ध बाह्य नवीन तकनीक और पद्धतियों से है। इसके विपरीत आधुनिकता एक विशेष मानसिक रुझान है, एक दृष्टि है। यह दृष्टि या रुझान परम्परागत संस्कृति और मूल्यों के विपरीत एक नवीन मार्ग अपनाती है; जीवन को नए सिरे से देखने का प्रयत्न करती है। हिन्दी-साहित्य में यह आधुनिकता दो परस्पर-विरोधी आदर्शों के रूप में उभरनी आरम्भ हुई थी। आरम्भ में केवल नवीनता, विचित्रता और परम्परा से भिन्नता की प्रवृत्ति ही प्रधान रही। आगे चलकर परम्परा-विरोध की इस प्रवृत्ति ने दो स्पष्ट रूप अथवा आदर्श अपना लिए। इनके रूप में आधुनिकता के दो आदर्श सामने आए। एक आदर्श पूँजीवाद का था और दूसरा समाजवाद का। इसी को कुछ लोगों ने पाश्चात्य अर्थात् यूरोप-अमरीका का पूँजीवादी आदर्श तथा पूर्वी अर्थात् साम्यवादी आदर्श कहा। यूरोप में 'शीत-युद्ध' के दौरान इनकी परस्पर पहली टक्कर हुई थी। भारत में भी पाश्चात्य-सभ्यता से प्रभावित शिक्षित-वर्ग पाश्चात्य सामाजिक-संरचना आर्थिक उत्पादन और संगठन के तरीकों और जीवन

विधि को ही आदर्श मान, उसे ही 'आधुनिकता' का पर्याय मानने लगा और आज भी मानता है। यह वर्ग समाजवादी-आदर्श का घोर विरोधी है। इस पाश्चात्य आदर्श को स्वीकार कर लेने में यह राजनीति भी है कि इससे समाजवाद का प्रभाव घटता है।

युग-जीवन से प्रभावित साहित्य में भी उपर्युक्त पूँजीवादी और समाजवादी विचारधाराओं के इस संघर्ष के स्वर गूँजते रहे। इन दोनों के संघर्ष के कारण अर्थात् अन्तर को इस प्रकार समझा जा सकता है—

समाजवादी अर्थात् प्रगतिशील आधुनिकता का लक्ष्य है—वैज्ञानिक भौतिकवादी विश्व-बोध, उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण, तकनीकी प्रगति, सर्वहारा क्रान्ति, सर्वहारा का एकाधिपत्य, वर्ग-संघर्ष, परम्परा के शुभ-अशुभ रूपों के अनुसार स्वीकृति और निषेध तथा सहयोगी वर्गहीन समाज का निर्माण। हिन्दी के प्रगतिशील साहित्यकार इसी लक्ष्य को सामने रख साहित्य के क्षेत्र में उतरे थे। इसके विपरीत पाश्चात्य पूँजीवादी आदर्श से प्रेरित साहित्यकार व्यक्ति-स्वातंत्र्य का नारा लगाते और साम्यवाद का विरोध करते हुए सामने आए थे। ये समाज की अपेक्षा व्यक्ति को ही महत्त्व देते हुए अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का नारा बुलन्द करते रहे। ये पाश्चात्य आधुनिकता के समर्थक थे, जिसमें मुक्त प्रतियोगिता, व्यक्तिगत पूँजी-विनियोग और श्रेणीवद्ध समाज की स्वीकृति के साथ व्यक्ति को केन्द्रीय महत्त्व प्रदान किया जाता है। इसके लिए विवेकशीलता, उदारता, विविधता, अनेकता, स्वतंत्रता, लौकिकता तथा व्यक्ति को अधिक महत्त्व मिलता है।

मोह-भंग का उग्र विस्फोट

उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं का यह संघर्ष 'तार सप्तक' से ही आरम्भ हो चुका था। उसमें इन दोनों का अलग-अलग समर्थन और चित्रण करने वाली कविताएँ एक साथ प्रकाशित हुई थी। यह संघर्ष काफी समय तक चलता रहा। परन्तु आजादी मिलने के बाद भी सामान्य-जन की समस्या नहीं सुलझी, बल्कि उसकी स्थिति दिनो-दिन खराब होती चली गई, तो इस स्थिति ने शिक्षित बेकार नवयुवकों में भयकर असन्तोष और आक्रोश उत्पन्न कर दिया। और उनका यह आक्रोश अराजकता का विस्फोटक रूप धारण कर कविता के माध्यम से व्यक्त होने लगा। 'भूखी पीढ़ी', 'विद्रोही पीढी', 'दिगम्बर पीढ़ी', 'श्मशानी पीढ़ी', 'उग्र युवा' जैसे आक्रोशपरक नाम धारण कर असन्तुष्ट नवयुवक नए ढंग की कविताएँ रचने लगे। सातवें दशक में लगभग यही स्थिति रही। यह विचारधारा अराजक वामपंथी विचारधारा है जो उपर्युक्त दोनो प्रधान विचारधाराओं की विरोधी है। यह यथास्थितिवाद और समाजवाद, दोनों को ललकारती है तथा राजनीतिक-सामाजिक यथास्थिति को नकारती हुई मानव-जीवन को ही एक पूर्ण विसंगति के रूप में देखती है। बंगाल, बिहार, आन्ध्र आदि का नक्सलवादी आन्दोलन इसी विचारधारा की उपज था

अस्तित्ववाद की अस्तित्व-चिन्ता

उपर्युक्त समाजवादी, पूँजीवादी तथा अराजकतावादी वामपंथी विचारधाराएँ देश की सम-विषम परिस्थितियों की ही उपज थीं। इसलिए हिन्दी की नई कविता मे य तीनों विचारधाराएँ अभिव्यक्ति पाती रहीं। धीरे-धीरे अराजकतावादी वामपंथी कविताओं का ज्वार उतरता चला गया और अब यदा-कदा ही ऐसी कविताएँ देखने को मिलती है। परन्तु हिन्दी के कुछ साहित्यकार कुछ ऐसी विदेशी विचारधाराओं का अनुकरण कर कविताएँ लिखने लगे थे, जो अपने जन्म-स्थान यूरोप के फ्रांस, इंगलैण्ड आदि देशों में तो वहाँ की परिस्थितियों के अनुकूल संगत और स्वाभाविक थीं, परन्तु भारत मे अभी उनके अनुकूल वातावरण नही बन पाया था। हिन्दी का अस्तित्ववादी काव्य ऐसे ही विदेशी अनुकरण का परिणाम था। यह कविता ऐसे कवियों द्वारा रची जा रही थी जिनके अस्तित्व और भविष्य के लिए कोई खतरा नहीं था। फिर भी उन्हे केवल अपने ही नहीं, व्यक्ति मात्र के अस्तित्व का संकट सताता रहता था। अज्ञेय के 'अपने अपने अजनबी', धर्मवीर भारती के 'अन्धा युग', कुँवर नारायण के 'आत्मजयी' तथा मुक्तिबोध की कुछ कविताओं में इसी अस्तित्व-चिन्ता का रूप उभरा था। व्यक्ति के अस्तित्व की चिन्ता मे ग्रस्त और व्याकुल यह अस्तित्ववादी चिन्तन भी पाश्चात्य पूँजीवादी आधुनिकता की देन था।

आधुनिक नई कविता की उत्पत्ति और रचना की पृष्ठभूमि का उपर्युक्त विवेचन यह स्पष्ट कर देता है कि नई कविता का सृजन किन सम-विषम परिस्थितियों मे होता चला आया है। हमारा आजादी के बाद का पूरा युग संक्रमण-काल का युग रहा है। इस युग मे नई परिस्थितियों के कारण उत्पन्न नाना प्रकार की विचार-धाराएँ परस्पर टकराती रही है और उनकी यह टक्कर आज तक जारी है। मूल टक्कर समाजवादी और पूँजीवादी विचारधाराओं मे रही है। इन दोनों का यह सघर्ष अपनी-अपनी समर्थक विभिन्न विचारधाराओं और कला-रूपों का आश्रय और सहारा ले मुखरित होता रहा है। इसी कारण हिन्दी की नई कविता, अर्थात आजादी के बाद लिखी जाने वाली कविता अधिक व्यापक रूप धारण कर आगे बढती रही है। इसी कारण इसमें गहराई की अपेक्षा फैलाव अधिक मिलता है। आज भारत ही नही, सम्पूर्ण विश्व में समाजवाद और पूँजीवाद अपनी अस्तित्व-रक्षा तथा प्रभाव-विस्तार के लिए अपनी-अपनी पूरी शक्ति के साथ परस्पर जूझ रहे है। हिन्दी की नई कविता भी इस संघर्ष में अपना पूरा योग दे रही है। यह पूरी ईमानदारी के साथ अपने युग को अभिव्यक्ति प्रदान कर रही है, इसीलिए पर्याप्त लोकप्रिय हो उठी है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है, आजकल अधिक संख्या में आयोजित किए जाने वाले कवि-सम्मेलन तथा उनमें होने वाली श्रोताओं की अपार भीड़। अस्तु,

अब हमें संक्षेप में इस नई कविता की विशेषताओं को समझ लेना चाहिए।

नई कविता की विशेषताएँ

डा० शम्भूनाथ सिंह ने हिन्दी की नई कविता की निम्नलिखित विशेषताएँ

निर्धारित की हैं—(१) आधुनिक भावबोध, (२) वैयक्तिकता और सामाजिकता में सामंजस्य, (३) अनुभूतियों की अद्वितीयता और प्रामाणिकता, (४) प्रतीकात्मक और खण्डित बिम्ब-योजना, (५) छन्द-विधान, तथा (६) भाषा और शब्द-चयन।

इनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

आधुनिक भावबोध

डा० बच्चनसिंह का यह कहना है कि नई कविता आधुनिकता-बोध की कविता है। जिसको आधुनिकता का बोध नही है, वह नई कविता को पूरी तरह से नही समझ सकता। इसका मूल्यांकन आधुनिक जीवन-बोध पर निर्भर है। इसी को डा० शम्भूनाथ सिंह 'आधुनिक भावबोध' कहते हैं। उनके अनुसार आधुनिकता ही नई कविता का प्राण है। विज्ञान तथा वैज्ञानिक खोजों के कारण नए-नए क्षेत्रों मे सम्बन्धित नए ज्ञान का प्रकाश फैला है। उनकी सहायता से मानव-मन के अनेक रहस्यों का रूप स्पष्ट हुआ है। नई कविता में नवीन औद्योगीकरण के कारण दिनोंदिन जटिल बनते चले जा रहे मानव-जीवन और मानव-मन की नाना प्रकार की जटिलताओं का प्रकाशन हो रहा है। जटिलताओं के उद्घाटन की यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है। यही कारण है कि पुरानी पीढ़ी के लोग इस कविता को अच्छी तरह समझ नही पाते। क्योंकि उनके पुराने मूल्य नए गतिशील युग के नए मूल्यों से समझौता करने में संकोच करते है।

२ वैयक्तिता और सामाजिकता का सामंजस्य

नई कविता में वैयक्तिकता और सामाजिकता, दोनों के स्वर एक साथ मुखरित हो रहे हैं। एक ही कवि दोनों को एक साथ अभिव्यक्ति प्रदान करता है। डा० शम्भूनाथ सिंह के अनुसार इसका कारण यह है कि अब कवि इन दोनों को अलग-अलग खानों में बाँट कर नहीं देखता। "उसकी दृष्टि मे समाज परिधि है और व्यक्ति केन्द्र। नई कविता के कवि का 'मैं' एक का नहीं, बहु का बोधक है। इसलिए ऐसा कवि वैयक्तिक चेतना की अभिव्यंजना करता हुआ भी सामाजिक यथार्थ से असम्पृक्त नही रहता। इस सामंजस्य के फलस्वरूप नई कविता के कवियों का मानस-क्षितिज अपेक्षाकृत अधिक व्यापक और विस्तृत हो गया है।"

वस्तुत: इस सामंजस्य को नई कविता की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि माना जा सकता है। यह व्यक्ति और समाज दोनों के रूपों का उद्घाटन करने मे पूर्ण समर्थ है।

३ अनुभूतियों की अद्वितीयता और प्रामाणिकता

नई कविता के प्रशंसकों का कहना है कि नए कवि की अनुभूतियाँ पुरानी घिसी-पिटी न होकर मौलिक और असाधारण होती है। साथ ही उसकी अनुभूतियाँ उधार ली हुई न होकर स्वानुभूत और प्रामाणिक होती है। जीवन के विशिष्ट क्षणों में उसके मन में ऐसी अनुभूति होती है जो मौलिक और असामान्य प्रतीत होती

है। इसका कारण यह बताया गया है कि—"कवि जिन क्षणों में उन अनुभूतियो को उपलब्ध और अभिव्यक्त करता है, वे अद्वितीय होते है। किसी अनुभूति की प्रामाणिकता और अद्वितीयता का अर्थ यह है कि वह कवि की चेतना मे गहराई तक प्रविष्ट हो चुकी है और किसी अन्य ने उस अनुभूति को उसी रूप में और उसी गहराई तक उपलब्ध नही किया है। इस तरह नई कविता की अनुभूतियाँ परम्परा-गत, घिसी-पिटी, अनुकृत नहीं होती और उनमें मौलिकता, असाधारणता अनिवार्य रूप से होती है।"

उपर्युक्त विशेषता को आंशिक सत्य ही माना जायेगा। क्योंकि नई कविता मे व्यक्त सभी अनुभूतियाँ इस प्रकार की नही होतीं। उनका एक बहुत बड़ा अश वह है जिसे सामान्य अनुभूतियाँ माना जा सकता है और यही अंश नई कविता को सामान्य-जीवन, समाज और व्यक्ति से गहरे रूप से जोड़ देता है।

४ प्रतीकात्मक और खण्डित बिम्ब-योजना

नई बिम्ब-योजना को, नई कविता की छायावादी बिम्ब-योजना से भी श्रेष्ठ उपलब्धि माना जाता है। इससे पूर्व हिन्दी-कविता में बिम्ब-योजना इस परिमाण मे नहीं मिलती। डा० शम्भूनाथ सिंह के अनुसार—"नई कविता के बिम्ब अधिकतर प्रतीकात्मक और सांकेतिक होते है। इसका कारण यह है कि नई कविता संवेदनात्मक या ऐन्द्रियबोधात्मक है। नई कविता गहरी सम्वेदनाओं को उद्दीप्त करके अनुभूतियो को नए अछूते आयामों का उद्घाटन करने के लिए प्रतीकात्मक और सांकेतिक बिम्बो की योजना करती है। हिन्दी का नया कवि पुराने रूढ़ प्रतीकों के स्थान पर नवीन और अप्रयुक्त प्रतीकों का प्रयोग ही अधिक करता है। और यदि पुराने प्रतीकों का प्रयोग करता भी है, तो उनमें नया सन्दर्भ और नया अर्थ भर देता है। नई कविता के कवि को—"कथ्य की नवीनता के कारण अभिव्यंजना के नए माध्यमों की खोज करनी पड़ती है। इसलिए नई कविता जिस तरह पुराने अप्रस्तुत विधान और परम्परागत अलंकारों को छोड़कर नवीन अप्रस्तुत का चित्रण करती है, उसी तरह नवीन कथ्य को व्यक्त करने के लिए अप्रयुक्त और बिल्कुल ताजे प्रतीकों का भी प्रयोग करती है। प्रतीकों की यह नवीनता तभी बनी रह सकती है जब वे वैयक्तिक हों।"

डा० शम्भूनाथ सिंह नई कविता की बिम्ब-योजना को प्रायः विश्लिष्ट या खण्डित मानते हैं। उनके अनुसार—"·····काव्यगत बिम्ब अचेतन मन से ही उद्भूत होते हैं, और जिस तरह स्वप्न और दिवा-स्वप्न के बिम्ब खण्डित और प्रतीकात्मक होते हैं, उसी तरह काव्य के बिम्ब भी होते हैं।" इन खण्डित बिम्बों के संकेत से ऐसे सम्वेदनों की उपलब्धि होती है जो कवि के सम्वेदनो से प्रायः भिन्न होते हैं। फलतः इन खण्डित बिम्बों में जितनी अधिक और व्यापक अर्थवत्ता होती है, उतनी पूर्ववर्ती कविता में नहीं थी। इससे स्पष्ट है कि नई कविता अर्थ-प्रधान नही, बिम्ब-प्रधान है।"

परन्तु डा० प्रेमप्रकाश गौतम का कहना है कि—"बिम्ब का काव्य मे विशिष्ट स्थान है, काव्य-प्रक्रिया ही बिम्ब-विधान की है। परन्तु वह है साधन ही। इधर बिम्ब-विधान पर बहुत जोर होने से नई कविता का बहुत-सा अंश शब्द-चित्र मात्र होकर रह गया है। बिम्ब-विधान या शिल्प के किसी भी पक्ष पर अधिक बल देने से रचना काव्य न रहकर कारीगरी बन जाती है।" डा० गौतम अत्यधिक प्रतीकात्मकता को भी काव्य के लिए वांछनीय नही मानते। उनके अनुसार—"कविता सहज-सरल हो या प्रतीकों एवं लाक्षणिक व्यजनात्मक प्रयोगों से बोझिल और अस्पष्ट, इस सम्बन्ध में भी विचार अपेक्षित है। निस्सन्देह काव्यानुभूति के सम्प्रेषण के लिए अमूर्त्तन, प्रतीक-पद्धति और लक्षण-व्यंजना का आश्रय लेना, शब्दों को नया अर्थ देना बहुधा आवश्यक होता है। परन्तु बिम्बात्मक, प्रतीकात्मक अथवा लाक्षणिक व्यंजनात्मक पद्धति का कठोर आग्रह, शब्दो को मनमाना अर्थ देना, आयासित, अभिव्यक्ति-चेष्टा उक्ति को किसी भी कारण क्लिष्ट या दुर्बोध बना देना वांछनीय नहीं है।"

वस्तुत: डा० शम्भूनाथसिंह ने जिस प्रतीकात्मकता और बिम्ब-योजना को नई कविता की विशेषता और विशिष्ट उपलब्धि माना है, उसने नई कविता को अधिक दुरूह और अस्पष्ट ही बनाया है। परन्तु, जैसा कि हम पीछे कह आए हैं, सम्पूर्ण नई कविता ऐसी नही है।

५ छन्द-विधान

डा० शम्भूनाथसिंह के मतानुसार—"आधुनिक युग का जीवन वैज्ञानिक और बौद्धिक होने के कारण अत्यन्त जटिल हो गया है, उसमे भावुकता नहीं रह गई है। इस कारण आज का युग-जीवन गद्यात्मक हो गया है। फलत: नई कविता मे पद्य की लय की जगह गद्य की लय ने ले ली है। इसी अर्थ मे यह कहा जाता है कि नई कविता मे नाद की लय नहीं, अर्थ की लय है।" नई कविता इस अर्थ की लय को लेकर तो चलती ही है, परन्तु छन्दों का मोह नही छोड़ पाई है। अधिकांश नई कविता मुक्त-छन्द मे ही लिखी जा रही है, जिसमें अर्थ की लय के साथ नाद की लय भी रहती है। इधर अनेक कवि ग़ज़ल, रुबाई, शेर आदि उर्दू के छन्दों में सुन्दर कविताएँ लिख रहे हैं।

६ भाषा और शब्द-चयन

नई कविता की भाषा उत्तरोत्तर सरलता की ओर बढ़ रही है। वह अपनी सरल भाषा में इतना गहरा अर्थ भर देती है कि उसकी इस सफल अभिव्यक्ति-क्षमता को देख आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। दैनिक बोलचाल की भाषा और उसके शब्दों मे गहरा अर्थ उत्पन्न कर देना सचमुच आश्चर्य की बात है। उसे जहाँ से भी उपयुक्त शब्द मिल जाते हैं, वह उन्हें निस्संकोच अपना लेती है। इस क्षेत्र मे वह पूर्वाग्रहो से सर्वथा मुक्त है। वस्तुत: नई कविता की भाषा यथार्थ-जीवन के साथ पूर्णत घुल-मिलकर चलने वाली भाषा है।

नई कविता और रागात्मकता

अनेक नए कवियों और उनके समर्थक समीक्षकों का यह कहना है कि आज के जटिल जीवन में भावुकता नहीं रह गई है; अत. आज कविता में राग का कोई स्थान नहीं रहा है। प्रखर बौद्धिकता से सम्पन्न आज के जटिल जीवन में कवि न राग-प्रधान कविता रच सकता है और न उससे सन्तुष्ट हो सकता है। परन्तु यह कहना और मानना गलत है। कालिदास, भवभूति, जयदेव, सूर, तुलसी का काव्य आज भी हमें उद्वेलित कर देता है और उसमें राग की ही प्रधानता रही है। आज भी अनेक ऐसी कविताएँ रची जा रही हैं जो मन को झकझोर डालती हैं और उनमें रागात्मकता का बड़ा मनोरम और प्रभावशाली रूप मिलता है। सत्य तो यह है कि कवि गहरे भावोत्तेजन की स्थिति में भी स्वयं को अभिव्यक्त करने की चेष्टा करता है। भावोत्तेजन के अभाव में रचित कविता या तो काव्याभास होती है अथवा काव्योन्मुख या एकदम 'अकविता'। और भावोत्तेजन का मूल राग होता है। तथा राग को ही काव्य का मूल माना गया है। इसी राग का अभाव होने के कारण ही 'अकविता' का आन्दोलन क्षणजीवी बनकर ही रह गया था। नई कविता का राग से गहरा सम्बन्ध रहा है।

वस्तुत. नई कविता के सम्बन्ध में आधुनिकता अथवा आधुनिक भावबोध को लेकर अनेक भ्रान्तियों का सृजन किया गया है। स्वयं को बहुत अधिक बौद्धिक समझने वाले नए कवि-समीक्षकों ने ही इसके बहुत अधिक ढोल पीट इसके अर्थ को और अधिक उलझा दिया है। आधुनिक युग की अधिकांश कविता अपने-अपने युग-बोध से प्रभावित रही है। परन्तु मुसीबत तब होती है जब हम विदेशी समीक्षा-शास्त्र से नए-नए शब्द लेकर उन्हें अपने साहित्य पर आरोपित करने का प्रयत्न करने लगते हैं। 'आधुनिकता', 'आधुनिक भाव-बोध या युग-बोध' ऐसे ही उधार लिए हुए शब्द है। यूरोप में आज 'आधुनिकतावाद' समाप्त हो चुका है, परन्तु हम अभी तक उसके ढोल पीटते जा रहे हैं। डा० प्रेमप्रकाश गौतम ने इसी स्थिति में चिन्तित हो, उसका विरोध करते हुए लिखा है—

"आधुनिकता और आधुनिक बोध, यथार्थ के प्रति असम्पृक्त तटस्थ दृष्टि वस्तुत: उतनी बड़ी वस्तुएँ नहीं है, जितना उन्हे बताया जाता रहा है। आधुनिकता पर अधिक बल देने वाली रचना का सामयिक महत्त्व कितना ही हो, स्थायी मूल्य अधिक नहीं होता। वस्तुत: आधुनिकता की चेतना और उससे सम्बन्ध रखने के साथ अतीत की चेतना और सम्बद्धता भी कवि के लिए आवश्यक है।""बुद्धि-तत्त्व की सत्ता काव्य में आवश्यक है, परन्तु वह कविता की मूल वस्तु न होकर गौण तत्त्व है। राग-रहित बौद्धिकता काव्य-सर्जना नहीं कर सकती।"

लघुता और हीनता को महत्त्व

नई कविता में मानव की लघुता और हीनता को काफी स्थान और महत्त्व दिया गया है। [illegible]दी कवि आज के नाना प्रकार की जटिलताओं से

ग्रस्त समाज में मानव को नितान्त लघु, हीन और असहाय समझता है और उसकी इसी दशा का अपनी कविताओं में चित्रण करता है। इसी कारण ऐसे हताश कवि क्षणवादी बन गए हैं। वे क्षण-विशेष के अनुभव को ही दरिद्र की अमूल्य निधि के समान छाती में लिपटाए मानव की खण्डित इकाई का चित्रण करने में ही अपने काव्य की सार्थकता समझते हैं। यह दृष्टि बहुत ही संकुचित और निर्बल है। कविता में जीवन की सम्पूर्णता और अखण्डता का चित्रण ही उसे कालजयी रचना बनाता है। क्षणवाद भोगवाद की प्रवृत्ति को बढ़ावा देता है और भोगवाद अनास्था, नियतिवाद, अशान्ति और व्यथा को। नई कविता में ऐसी क्षणवादी कविताओं की प्रचुरता मिलती है।

नई कविता और नव-लेखन

हमारे प्रयोगवादी कवि आरम्भ से ही नए-नए नामों के नारे लगाते रहे है। पहले वे 'प्रयोगवाद' के गीत गाते रहे। जब 'प्रयोगवाद' काफी बदनाम हो गया, तो उसे छोड़ 'नई कविता' का नाम अलापने लगे। और जब इनका इस नए नाम का छद्म खुल गया, तो 'नवलेखन' का मुखौटा लगा अपने मौलिक और स्वतंत्र अस्तित्व का दम्भ करने लगे। इसका कारण यह था कि 'नई', 'नया' या 'नव' का विशेषण लगाकर ये लोग सदैव चर्चित बने रहने का प्रयत्न करते रहते थे। क्योंकि ये विशेषण दूसरों को चौंका कर अपनी ओर आकर्षित कर लेने का आकर्षण रखते है।

हुआ यह कि सन् १९५८ के आसपास कुछ प्रयोगवादी कवियों-लेखकों ने 'नई कविता' से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर 'नवलेखन' का एक नया मुखौटा लगा लिया। प्रसिद्ध प्रयोगवादी श्रीकान्त वर्मा और नरेश मेहता ने नव लेखन : अभिनव हिन्दी का दावा करते हुए एक मासिक पत्रिका 'कृति' निकाली। इसके पहले अंक में गजानन मुक्तिबोध तथा शमशेरबहादुर सिंह जैसे मँजे हुए कवियों की कुछ कविताए छपी। इसके सम्पादकों ने अपने वक्तव्य में 'नई कविता' की खूब कसकर खबर ली थी। यह 'नवलेखन' के नाम से प्रचारित एक नया आन्दोलन था, जिसका मूल लक्ष्य अज्ञेय के नेतृत्व को चुनौती देते हुए प्रयोगवाद पर चोट करना था, साथ ही यह भी दिखाना था कि उनका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। इन्होंने 'नई कविता' नाम का उग्र विरोध किया था। परन्तु यह आन्दोलन अधिक चल नहीं सका। हिन्दी की नई कविता चारों ओर से प्रभाव समेटती हुई स्वच्छन्द गति से आगे बढ़ती रही।

'नव' या 'नई' नाम की यह छूत की बीमारी हमारे कुछ नए गीतकारों को भी लगी थी। इसी बीमारी से ग्रस्त हो उन्होंने 'नवगीत' का एक नया आन्दोलन छेड़ दिया था। यह घटना सन् १९६५ में घटी थी। रवीन्द्र भ्रमर, वीरेन्द्र मिश्र जैसे सरस गीतकारों ने यह नया आन्दोलन छेड़ कर क्या नई उपलब्धि प्राप्त की यह आज तक स्पष्ट नहीं हो पाया है अस्तु

गतिरोध की समस्या

नई कविता के इतिहास में एक बात बड़ी विचित्र मिलती है। इस कविता ने जब-जब यथार्थ जीवन के साथ गहरा सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया है, तब-तब तरह-तरह के बहाने गढ़ कर 'साहित्यिक-गतिरोध' का नाराबुलन्द किया जाता रहा है। प्रयोगवाद ने भाषा की असामर्थ्य, परम्परा-विरोध और व्यक्ति-स्वातंत्र्य का नारा लगाते हुए हिन्दी की कविता को एक नया वायवी सौन्दर्यशास्त्र देने का दावा किया था। क्योंकि प्रयोगवादियों की दृष्टि मे हिन्दी-साहित्य में गतिरोध की स्थिति आ गई थी। इसके बाद 'नई कविता', 'नवलेखन', 'नवगीत' आदि के सारे आन्दोलन उस गतिरोध की स्थिति को दूर करने के लिए उठते रहे हैं। और इन सबका मूल लक्ष्य रहा है—साहित्य की परम्परा का विरोध करते हुए स्वयं को नितान्त मौलिक तीसमार खाँ सिद्ध करने का प्रयत्न। वस्तुत: साहित्य मे कभी भी गतिरोध की स्थिति नही आई है। विभिन्न संक्रमण-कालो को भावी विकास का ही चेतना-वाहक मानना होगा। जो उस विकास की गति के साथ चलने में स्वयं को असमर्थ पाते है, वे ही गतिरोध का हौआ खड़ा करते हैं।

समष्टि रूप मे, हिन्दी की नई कविता विभिन्न प्रकार के साहित्यिक-आन्दोलनों के बीच में से गुजरती हुई, नए युग के नए वातावरण के प्रभावों को आत्मसात करती निरन्तर आगे बढ़ती रही है। उसमें कविता, गीत, प्रबन्ध आदि सभी प्रकार की अच्छी और बुरी दोनों तरह की रचनाएँ होती रही हैं। भाषा और उसके विभिन्न अंगों का नया विन्यास हुआ है, उसकी शक्ति बढ़ी है। सबसे बड़ी बात यह है कि यह नई कविता अधिक ईमानदार है, अधिक सम्वेदनशील, अधिक व्यापक और सशक्त है।

२

नई कविता का स्वरूप

- **आजादी की उमंगभरी रचनाएँ**
- **गांधी का व्यापक प्रभाव, युद्ध की विभीषिका का आतंक, राष्ट्रीय एकता का अनुपम रूप**
- **सामाजिक-विषमता विरोधी आस्थावादी स्वर**
- **व्यक्तिवादी कविता, अस्तित्व की चिन्ता, व्यक्तिपरक आस्थावादी काव्य**
- **नवगीत**
- **प्रबन्ध-काव्य**
- **नए युग-बोध की कविता**

पिछले निबन्ध में हमने 'नई कविता' के जन्म, विकास, सिद्धान्त, उससे सम्बन्धित विभिन्न आन्दोलन आदि का विवेचन-विश्लेषण करते हुए उसकी एक सामान्य रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। अब यहाँ इस सम्बन्ध में हम नई कविता के विभिन्न रूपों को उदाहरण सहित प्रस्तुत करना चाहेंगे। वस्तुतः यह निबन्ध एक स्वतंत्र निबन्ध न होकर पिछले निबन्ध का परिशिष्ट ही माना जाना चाहिए। पिछले निबन्ध में हमने उसका आकार अधिक बढ़ जाने के भय से ही नई कविता की सोदाहरण व्याख्या करने का प्रयत्न नहीं किया था।

पिछले निबन्ध में हम यह बता आए है कि सन् १९५० से लेकर आज तक रची जा रही सभी प्रकार की कविताओं को हमने नई कविता माना है। उसमें सभी प्रकार के शुभ-अशुभ प्रभावों, विचारधाराओं, प्रवृत्तियों आदि से प्ररित-प्रभावित कविताओं को सम्मिलित किया जा सकता है। लगभग तीन दशकों के इस लम्बे युग मे समाजवादी और पूँजीवादी (व्यक्तिवादी) दो प्रधान विचारधाराओं से प्रभावित कविताएँ ही अधिक मात्रा में लिखी जाती रही हैं। दोनों से ही प्रभावित कविताओ मे अच्छी और बुरी, दोनों प्रकार की रचनाएँ लिखी गई है। 'बुरी' से हमारा अभिप्राय उन कविताओ से है जो घोर व्यक्तिवादी है तथा जीवन में आस्था न जगाकर अनास्था और निराशा को ही अधिक बढ़ाती है अथवा अत्यधिक उत्साह मे भर अनुचित और

अनर्गल बातों का ही प्रचार करती है। अब हम आगे इन दोनों प्रकार की कविताओं के सोदाहरण रूप प्रस्तुत करना चाहेंगे।

आजादी की उमंगभरी रचनाएँ

भारत १५ अगस्त सन् १९४७ को आजाद हुआ था। हमारे नए-पुराने कवियों ने सदियों उपरान्त मिलने वाली इस आजादी का दिल खोलकर स्वागत किया था। उसी दिन माखनलाल चतुर्वेदी ने नई आशा से भर लिखा था—

'ब्रिटिश राज टुकड़े-टुकड़े है
क्या समाज का भय है,
उठ कि उसल दे शिथिल रूढ़ियाँ—
तेरी आज विजय है।
तोड़ अमीरों के मन्सूबे
गिन न दिनों की घड़ियाँ,
बुला रही है तुझे देश की
कोटि-कोटि झोंपड़ियाँ।
हों नन्हीं दुनियां के हाथों
कोटि-कोटि जयमाला
मस्तक में दायित्त्व, हृदय में वज्र
—दृगों में ज्वाला।'

सबको आशा बँधी थी कि अब देश में खुशहाली बढ़ेगी। भारत में ही नहीं, विश्व में जनवादी शक्तियाँ अधिक प्रबल और शक्तिशाली होती जा रही थी। हमारे प्रगतिवादी कवि साम्यवादी रूस और चीन से प्रेरणा ले यह आशा कर रहे थे कि अब भारत में भी जनवादी शक्तियों का ही शासन स्थापित होना चाहिए। नागार्जुन ने रूस-चीन के सम्बन्ध में लिखा था—

'नजर उठाओ, देखो उस ओर
कर्म मुखर श्रमशील उद्गम सुख-सुविधा के
वोल्गा और याङसी-तटवर्ती इलाके
जहाँ कि निश्चिन्त निरान्तक निर्बाध
शत-सहस्र लक्ष-लक्ष वैज्ञानिक विश्वकर्मा
भट्टी गला-गला तोप-तीर-तलवार
बना रहे तन्मय हो नित नए औजार
उपज और निर्माण के साधन·········।'

साम्यवादी दल ने आन्ध्र के तैलगाना प्रदेश में किसानों को संगठित कर सशक्त विद्रोह करा दिया और नागार्जुन को आशा बँध गई कि भारत में साम्यवादी-शासन की स्थापना हो जायेगी—

'होशियार- कुछ देर नहीं है लाल सबेरा आने में
लाल भवानी प्रकट हुई है सुना कि तैलगाने में

परन्तु आजादी के बाद भारत में न तो 'लाल भवानी' ही प्रकट हो सकी और न अपनी ओर बुलाती 'कोटि-कोटि झोंपड़ियों' की दशा में ही कोई परिवर्तन आया बल्कि दिनकर के शब्दों में यह स्थिति आ गयी कि—'महल उठ रहे, झोंपड़ी खो गई है।' अर्थात् गरीबों की झोंपडियों को नष्ट कर उनके स्थान पर अमीरों के महल खड़े होते चले गए। दरअसल सच्ची आजादी तो देश के अमीरों को, काला बाजारिए पूँजीपतियों को ही मिली थी। दिनकर ने भारत के नए शासकों को लाख धमकी दी कि—

'दो राह सभ्यता के रथ का घर्घर नाद सुनो,
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।'

परन्तु हर पाँच वर्ष बाद चुनाव के नाम पर, प्रजातंत्र और गांधी के नाम पर देश के सफेदपोश शासक जनता को मूर्ख बनाते रहे और उनकी सहायता से अमीर गरीबों को लूटते रहे। इस स्थिति से मर्माहत हो माखनलाल चतुर्वेदी ने बड़े दर्द भरे कण्ठ से लिखा—

'वही तो सोना बनावें, खेत में मोती उगावें।
वही मेरी पतित प्रभुता का व्यथित बोझा उठावें।
वही कठिन सुरंग खोदे, वही उठ पर्वत बहावें।
वही पत्थर-सी भुजाएँ राष्ट्ररथ के पथ बनावें।'

किन्तु उन्हीं की स्थिति यह थी कि—

'गले में दारिद्र्य नागन, कमर में चिथड़ा नहीं है।
दीन दानों की करे विधि पेट में टुकड़ा नहीं है।'

इस घोर अन्याय को देख दिनकर ने इन स्वदेशी शोषकों को पुनः ललकारा था कि—

'अपने को ही नहीं देख, टुक ध्यान इधर भी देना;
भूमिहीन कृषकों की कितनी बड़ी खड़ी है सेना।
बाँध तोड़ जिस रोज फौज खुलकर हल्ला बोलेगी,
तुम दोगे क्या चीज ? वही चाहेगी सो लेगी।
कृष्ण दूत बनकर आया है, सन्धि करो सम्राट !
मच जायेगी प्रलय, कहीं वामन हो पड़ा विराट।' —कुरुक्षेत्र

परन्तु अभी तक न तो 'वामन' ही विराट हो सका और न प्रलय ही मची। आज आजादी के बत्तीस वर्ष बाद भी जनता-रूपी वामन पूँजीपतियों का कुछ भी बिगाड़ने मे असमर्थ है।

गांधी का व्यापक प्रभाव

आजादी के बाद लिखी जाने वाली कविता पर गाधी का गहरा प्रभाव रहा था। इस प्रभाव का गहरा रूप उस समय देखने को मिला था जब ३० जनवरी सन् १९४८ को एक हत्यारे ने तीन गोलियाँ मार कर भारत के 'बापू' की हत्या कर डाली

थी। उस घटना को सुनकर सारा विश्व स्तब्ध रह गया था। हिन्दी के नए-पुराने अधिकांश कवियों ने भीगे नयनों और भरे कण्ठों से मार्मिक श्रद्धाजलियाँ अर्पित की थीं। मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानन्दन पन्त, दिनकर, बच्चन आदि से लेकर नए-से-नए कवियों ने अपनी कविताओ के माध्यम से आँसू बहाए थे। नरेन्द्र शर्मा ने 'अश्रु पूरित नयनों मे बापू को अपनी भावभीनी श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए लिखा—

'तुंग हिमाद्रि समान
आज दिक्काल परिधि के पार,
शोभित हो तुम वहाँ
जहाँ पहुँचे न शब्द झंकार।
अपने अलिखित गीत
अनावृत पुष्पों से इस हेतु,
अर्पित करता हूँ
अंजलि दे सादर बारम्बार।' —रक्त-चन्दन

बच्चन ने 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय'—गीता के इस श्लोक के आधार पर लिखा था—

'यह गांधी मरकर पड़ा नहीं है धरती पर,
यह उसकी काया, काया होती है नश्वर,
'गांधी' संज्ञा वह है जो जग में अजर-अमर
दी उसने केवल
जीवन की
चादर उतार।
बापू का मरना सौ जीने से जोरदार।'

गांधी के मरने के बाद भी हिन्दी-कविता पर गांधी के सिद्धान्तों का काफी प्रभाव रहा था। उनके सत्य-अहिंसा, हिन्दू-मुस्लिम-एकता, अछूतोद्धार, ग्रामोत्थान, राष्ट्रभाषा आदि से सम्बन्धित विचारों को हिन्दी के कवि बहुत समय तक वाणी प्रदान करते रहे थे।

युद्ध की विभीषिका का आतंक

सत्य और अहिंसा का पुजारी, शान्ति का एकान्त उपासक गांधी मार डाला गया। उसके रूप में मानवता की हत्या की गई थी। इधर मानवता का, सत्य, शान्ति और अहिंसा का एकमात्र शत्रु पूँजीवाद द्वितीय विश्वयुद्ध से भी कोई सबक न सीख तीसरे विश्वयुद्ध की तैयारियों में जुटा हुआ था। उधर रूस अपने साम्यवादी साथी देशों के सहयोग से शक्ति-सम्वर्द्धन कर पूँजीवाद का विरोध कर रहा था। दोनों ही पक्ष अन्धाधुन्ध हथियार बना रहे थे और दिनोंदिन इस बात की सम्भावना बढ़ती जा रही थी कि कहीं तीसरा विश्वयुद्ध न छिड़ जाय। हिन्दी का कवि जो स्वभाव से ही

शान्ति और न्याय का उपासक होता है, विश्व पर छा रहे युद्ध के बादलों को देख त्रस्त हो उठा था। उसे आशंका थी कि यदि युद्ध छिड गया, तो मानव की इस नई सन्तति और उसके शुभ प्रयत्नों का क्या परिणाम होगा—

'बारूद जिन्दगी की बगिया को घेरे है—
अब अपनी-अपनी ढपली, अपना राग नहीं।
मालियो ! अगर मुँह एक-दूसरे का तका—
तो दो क्षण में ये फूल नहीं, ये बाग नहीं ॥
सबके सपनों के फूल खिलें, इसलिए तुम्हें,
अपने सपनों में आग लगा देनी होगी।
सबके सपनों के दीप जले, इसलिए तुम्हें,
'अपने जीवन की ज्योति बुझा देनी होगी ॥'

—'नई पीढ़ी, नई राहें'—रामकुमार चतुर्वेदी

क्योंकि नीरज का कहना है—

'मैं सोच रहा हूँ, अगर तीसरा युद्ध छिड़ा,
इस नई सुबह की नई फसल का क्या होगा।'

—'नील की बेटी के नाम पाती'

राष्ट्रीय एकता का अनुपम रूप

परन्तु जब हमारे पड़ोसी देशों द्वारा भारत पर युद्ध थोप दिया गया, तो सम्पूर्ण देश में राष्ट्रीय एकता की एक अनुपम लहर फैल गई थी। देश के सारे राजनीतिक दल, सामान्य जनता अपने मतभेद भुलाकर एकजुट हो शत्रु के विरुद्ध उठ खड़े हुए थे। देश-कल्याण, अत्याचार और शोषण से मुक्ति, विश्व-शान्ति, सांस्कृतिक एकता, देश-गौरव, साहित्य और कला के परिष्कार द्वारा भावनाओं के उन्नयन के गीत गाने वाले हिन्दी के कवि, जो भविष्य-निर्माण और विषमताओं के प्रति अनवरत संघर्ष करते रहने की प्रेरणा देते रहे थे, आक्रोश से उद्वेलित हो शत्रु के विरुद्ध गर्जना करने लगे थे। पहले पड़ोसी मित्र-देश चीन ने विश्वासघात कर सन् १९६२ में भारत पर आक्रमण किया था और फिर पड़ोसी पाकिस्तान ने सन् १९६५ और १९७१ में दो बार हमारे ऊपर हमला किया था। इन तीनों ही अवसरों पर हिन्दी के कवियों की वाणी में अद्भुत राष्ट्रप्रेम और प्रचण्ड राष्ट्रीयता के आक्रोश भरे स्वर गूँज उठे थे। ललित प्रणय के मुग्ध गायक घनश्याम अस्थाना जैसे कवियों ने भी सीमा पर संघर्षरत अपने वीर सैनिकों को उत्साहित करते हुए लिखा था—

'तुम जहाँ भी
शान्ति-रक्षा-कीर्त्ति अन्वेषी बने अभियान करते चल रहे हो,
मैं तुम्हारी मचलती रफ्तार का उन्मेष बन कर
साथ पग से पग मिलाकर चल रहा हूँ

सामाजिक विषमता विरोधी स्वर

स्वतंत्र भारत के नए-पुराने सभी कवि सभी प्रकार की विषमताओं का उन्मूलन करने वाले स्वर गूँजाने लगे थे। अधिकांश कवियों की वाणी में मानव और उसकी अप्रतिहत शक्ति के प्रति गहरी आस्था के स्वर गूँजने लगे थे। आशा के विरुद्ध, आजादी के बाद सामाजिक विषमता और अधिक बढ़ती चली जा रही थी। नेता और अफसर सुविधाभोगी-वर्ग के सदस्य बन गए थे। उर्दू-कवि अकबर इलाहाबादी ने इस वर्ग पर व्यंग करते हुए लिखा था—

'कौम के गम में डिनर खाते हैं हुक्काम के साथ।
रंज लीडर को बहुत है, मगर आराम के साथ॥'

कुर्सी से कभी भी न हटने वाले नेताओं पर व्यंग करते हुए एक कवि ने कहा था -

बेडमिण्टन चैम्पीयन क्रिकेटियर
दस पाँच बरस खेलने के बाद
खुद ब खुद हो जाते हैं रिटायर,
लेकिन बड़े लीडर या अभिनेता
महान साहित्य प्रणेता
कभी फील्ड नहीं छोड़ते
सौ जगह पंचर्ड ट्यूब को
चले जाते हैं जोड़ते।'

जब देश के शासक ऐसे नेता हों, जो अस्सी वर्ष पार कर लेने पर भी गद्दी पर पुन. बैठने का मोह न त्याग सकें, तो देश में विषमता का पनपना आश्चर्य की बात नहीं है। देश में अमीरी और गरीबी, दोनो ही बेतहाशा बढ़ती चली जा रही थीं। इसी भयानक विषमता पर करारी चोट करते हुए दिनकर ने कहा था—

'वे भी यहीं, दूध से जो अपने श्वानों को नहलाते हैं;
ये बच्चे भी यहीं, कब्र में 'दूध, दूध' जो चिल्लाते हैं।'

दिनकर ने इस भयानक विषमता को दूर करने के लिए जन-शक्ति का आह्वान किया था और कहा था कि—

'वैषम्य घोर जब तक यह शेष रहेगा,
दुर्बल का ही दुर्बल यह देश रहेगा।' —'परशुराम की प्रतीक्षा'

ब्रजकिशोर नारायण को आशा थी कि—

'तन को दो आहार अन्न का, मन को चिन्तन का अधिकार,
तन-मन दोनों बढ़ें अगर, हो चयन उठे सचमुच संसार।'

नीरज ने उज्ज्वल भविष्य की आशा से उमंगित हो कहा था—

'व्यर्थ नहीं पर मिट्टी का तप, व्यर्थ नहीं बलिदान हमारा,
व्यर्थ नहीं वह गीला आँचल, व्यर्थ नहीं यह आँसू धारा,
है मेरा विश्वास अटल, तुम डाँड हटा दो, पाल गिरा दो
बीच समन्दर एक दिवस मिलने आएगा स्वयं किनारा.
मन की गति पग-गति बन जाये, तो फिर मंजिल कौन कठिन है ?
मेरे लक्ष्य निराश न हो, फिर जग बदलेगा, मग बदलेगा।
मेरे देश उदास न हो, फिर दीप जलेगा, तिमिर ढलेगा ॥'

परन्तु कवि के इन सपनों का साकार और सार्थक होना तब तक सम्भव नहीं, हम पुराने जीवन-मूल्यों से चिपके रहेंगे। बालस्वरूप राही के शब्दों में—

'व्यर्थ अर्चना यह नवीन की व्यर्थ नए का यह स्वागत है,
अगर मोह बनकर प्राणों से, अब तक लिपटा हुआ विगत है,
मन विपरीत चले चरणों के अगर, समझ लो राह खो गई,
आगे बढ़ना और नजर रखना पीछे की ओर ग़लत है।
वही पुराने मूल्य, मान्यताएँ अब भी युग को घेरे है,
केवल शब्द बदल जाने से चिन्तन नहीं बदल जाता है।'
—'मेरा रूप तुम्हारा दर्पण'

लेकिन हमारे इन आशावादी कवियों के ये सपने साकार न हो पाए। इसमे व्यवस्था का था जो सारे समाज को अपने पूँजीवादी शिकंजे में जकड़े हुए है। महानगर इस व्यवस्था के घिनौने अड्डे हैं, जहाँ मानव छटपटाता है, मुक्त लिए उछल-कूद मचाता है, परन्तु छूट नहीं पाता। कलकत्ता के नवयुवा कवि इसी शिकंजे में फँसे विवश मानव के सहज आक्रोश और क्षोभ को व्यक्त र लिखा है—

'मुझे शुक्रगुजार होना चाहिए
अपने देश के रहनुमाओं का
जिन्होंने मेरी जबान नहीं काटी
और छोड़ दिया है मुझे
ताउम्र भौंकने के लिए।
मुझे शुक्रगुजार होना चाहिए
उन लोगों का भी
जिन्होंने मेरे लिए दो वक्त रोटी का इन्तजाम किया
अपनी तिजोरियाँ भरने के लिए।
मुझे शुक्रगुजार होना चाहिए
अपने इन साथियों का भी
जिन्होंने इन्कलाब की कसमें खाईं'

और नारों की जगह मुझे इस्तेमाल करते रहे
सुनहरी दुशाला ओढ़ने के लिए।
लेकिन मैं शुक्रगुज़ार हूँगा, सचमुच शुक्रगुज़ार हूँगा
अपनी अगली पीढ़ी का
अगर वह इन सबके प्रति अहसान फ़रामोश हो सके।'

इस कविता में आधुनिक नवयुवक की सम्पूर्ण विवशता उजागर हो उठी है। साम्यवादी-शासन-प्रणाली अनुचित अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता नही देती, परन्तु पूँजीवादी व्यवस्था में मनुष्य को 'ताउम्र भौंकने' की आजादी तो रहती है परन्तु काट खाने की नहीं। हमारे देश में आपातकाल में अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अंकुश लगा दिया गया था। जनता पार्टी के शासन में वह अंकुश हटा लिया गया, फिर भी स्थिति मे कोई सुधार नही हो पाया। यही 'ताउम्र भौंकने' की आजादी कहलाती है। आप निरन्तर भौंकते रहिए, कोई आपकी ओर ध्यान नही देता। पूँजीपति हमे नौकरी देकर अहसान करता है कि हम तुम्हें रोटी-रोजी दे रहे है, इसलिए हमे उसका अहसानमन्द रहना चाहिए। राजनीतिक दल सामान्य जन को अपनी राजनीतिक सिद्धि के लिए इस्तेमाल करते हैं, क्रान्ति करने के नारे लगाते है। और बदमाशों का यह सारा गिरोह—पूँजीपति, नेता, नौकरशाह—सभी मिलकर जनता पर यह अहसान थोपते रहते है कि यह सब उसकी भलाई के लिए ही इतने कष्ट उठा रहे है, इतनी गहरी तपस्या और त्याग कर रहे हैं। वस्तुतः नवल की उपर्युक्त कविता हमारे प्रजातन्त्र का सारा कच्चा चिट्ठा खोलकर रख देती है।

यह था हमारी नई कविता का प्रगतिशील रूप जिसमे सम्पूर्ण युग-चेतना सशक्त अभिव्यक्ति पाती रही है। इस कविता में उल्लास, आस्था, हताशा, आक्रोश, क्षोभ आदि की युग-जीवन में व्याप्त सभी प्रकार की भावनाएँ अभिव्यक्ति पाती रही है। वीरेन्द्र मिश्र, रामकुमार चतुर्वेदी चंचल, नीरज, घनश्याम अस्थाना, भारत भूषण, बाल स्वरूप राही, रमेश कुन्तल मेघ, रवीन्द्र भ्रमर, सोम ठाकुर, शिवबहादुर सिंह भदौरिया, कमला चौधरी, नरेशचन्द्र जैसे युवा कवियों के साथ ही पन्त, दिनकर, बच्चन, शिवमंगलसिंह सुमन, केदारनाथ अग्रवाल, डा० रामविलास शर्मा, नरेन्द्र शर्मा, गोपालसिंह नेपाली, सोहनलाल द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी जैसे जाने-माने पुराने कवि जन-जन की भावनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान करते रहे है। यह देश के नए स्वदेशी भ्रष्ट शासन के विरुद्ध हिन्दी के कवियो की नए ढग की लड़ाई थी। उनके इस नए काव्य में वर्तमान युग अपने नए उत्साह और लोक-शक्ति को साथ ले युग की विषम परिस्थितियों के विरुद्ध जूझ रहा था। फिर भी कुछ लोगों ने कविता के क्षेत्र मे गतिरोध की स्थिति का नारा लगा नई कविता की इस जनवादी-धारा को रोकने का प्रयत्न किया था। पीछे उद्धृत थोड़ी-सी कविताएँ ही यह सिद्ध कर देती है कि हिन्दी की नई कविता बड़ी स्वस्थ गति से आगे बढ़ती जा रही थी।

व्यक्तिवादी कविता

पुराने प्रगतिवादी कवि आजादी के बाद भी निरन्तर कविताएँ लिखते रहे। इन्हे व्यक्ति की स्वतन्त्रता की चिन्ता अधिक थी, न कि समाज की स्वतंत्रता और उसकी समस्याओं की। इसी कारण इस युग में ऐसी कविताएँ भी पर्याप्त मात्रा में लिखी गई जो समाज की उपेक्षा कर व्यक्ति के अहं की परिधि मे ही सीमित होकर रह गई। इन पर प्रयोगवादी काव्यधारा का गहरा प्रभाव रहा। इसी काव्य को 'व्यक्तिपरक' अथवा 'व्यक्तिवादी' काव्य कहा जाता है। इस व्यक्तिवादी काव्य के भी दो रूप सामने आए। एक रूप वह था जो सम्पूर्ण परिवेश के प्रति घोर अनास्था के भाव मे आक्रान्त था और मानव के अस्तित्व-मात्र को ही खतरे मे पड़ा समझ उसकी वैयक्तिक कुण्ठाओं, निराशाओं और मानसिक यातनाओं तक ही सीमित था। दूसरा रूप वह था जिसमें यह सब कुछ रहते हुए भी, कहीं-कहीं संघर्ष के ऐसे आस्थावादी स्वर फूट पड़ते थे जो एक सुन्दर-सुखद भविष्य का निर्माण करने के आकांक्षी थे।

हमारे अधिकांश प्रयोगवादी कवि 'कला, कला के लिए' अर्थात् 'कविता, कविता के लिए' सिद्धान्त मे आस्था रखते थे। यह दृष्टिकोण काव्य को समाज से असम्पृक्त मान 'विशुद्ध काव्य' का सृजन करने मे आस्था रखता है। इसी सिद्धान्त ने हिन्दी में ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों को जन्म दिया था। इसमें 'वाक्शिल्पी' को ही असली कवि माना जाता है। शिल्प के नए-नए रूप चमत्कार की सृष्टि करते है। यह व्यक्तिवादी काव्य मूलतः निषेधपरक है, सब-कुछ का निषेध करता है और इस निषेध को ही इसके कवि 'विद्रोह' मानते है। अजित कुमार ने इसी विद्रोह का एक रूप प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

> **'चाँदनी चन्दन सदृश :**
> **हम क्यों लिखें ?**
> **मुख हमें कमलों सरीखे**
> **क्यों दिखें ?**
> **हम लिखेंगे :**
> **चाँदनी उस रुपए-सी है**
> **कि जिसमें**
> **चमक है, पर खनक गायब है।**
> **मुँह घर-अजायब है।**
> **(जहाँ पर बेतुके, अनमोल, जिन्दा और मुर्दा भाव**
> **रहते हैं।)** —'अकेले कण्ठ की पुकार'

परन्तु इस तथाकथित विद्रोह के साथ इनकी निराशा और विवशता ने उन्हे किंकर्त्तव्यविमूढ-सा बना रखा है, तभी तो भारतभूषण अग्रवाल को ऐसा प्रतीत होता है कि

'कुण्ठाओं की रात घिर गई ।
कटा-फटा फीका-सा चन्दा
आ बैठा है आसमान की इस सूनी लम्बी वीथी में
अलग, तटस्थ पर्यवेक्षक-सा !!
जितने भी पथ थे
सबकी परिणति होती है अँधियारे में !
प्राणों के पन्थी
सहमे, सिमटे बैठे हैं गलियारे में !!

—'ओ अप्रस्तुत मन'

गत्यावरोधों के घटाटोप में धर्मवीर भारती के विश्वास तरुणाई में ही घुटकर मर गए हैं और उनके इस दर्द को उनके प्रभु भी नहीं समझ सकते—

'तुमने कब झेली संक्रान्ति
तुम क्या समझोगे ओ प्रभु !
इन गत्यावरोधों का दर्द—
कैसे तरुणाई में ही
घुट कर मर जाते हैं विश्वास
प्राणों की समिधाएँ जम कर हो जाती है सर्द ।'

—'सात गीत वर्ष'

प्रभाकर माचवे का स्वप्न भंग हो गया है । मानव के द्विधा-व्यक्तित्व ने उनकी सारी आस्थाओं को खण्डित कर डाला है । आज मानव पशु के समान बन गया है—

'आज हुआ व्यक्तित्व विश्व का द्विधा, फट गए नर-नारी मन,
जब तक एक न होगी दुविधा, तब तक नर वानर, पशु सम जन ।'

—'स्वप्नभंग'

गिरिजाकुमार माथुर को ऐसा लगता है कि इस संस्कृति की एक कड़ी खो गई है, इसलिए संस्कृति का सारा ढाँचा अव्यवस्थित हो बिखर गया है—

'संस्कृति के इस महायज्ञ में
कोई भारी चूक हुई है
छूट गई है कोई कड़ी
अमोघ, अपूजित
भ्रष्ट हुआ जिससे शताब्दियों का आयोजन
मंत्र उड़ रहे हैं कटे शीश से
तंत्र, रक्त में सनी जटाएँ कापालिक की
आहुति उड़ती कतरी प्यारी जिह्वाओं सी

और भभक कर लपटों में से,
होते उदित अभय अहिरावण।

—'पृथ्वी-कल्प' (नाट्य-काव्य)

अस्तित्व की चिन्ता

ऐसी विषम परिस्थितियों में जगदीश गुप्त को अपना अस्तित्व किसी झूठ पर आधारित दिखाई देने लगता है—

'लगता है सारा अस्तित्व किसी झूठ पर
टिका हुआ, जाता है आप-ही-आप बिखर
केवल रव अर्थहीन, साँसों का क्षीण स्वर।'

—'नाव के पाँव'

अपनी अस्तित्व-चिन्ता के कारण इन कवियों को सदैव यह भय सताता रहता है कि—

'कूड़े-सा तज कर हमको तट के पास
मन्थर गति से बढ़ जायेगा इतिहास।'

—धर्मवीर भारती : 'जिज्ञासा'

अस्तित्व के प्रति इस अनास्था और शंका ने उन्हे पराजयवादी बना दिया था—

'इस थके मस्तिष्क में मेरी पराजय
छिपकली-सी पग दबाए चल रही है।'

—सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

परन्तु इन कवियों की ऐसी भीरु, पलायनवादी आत्मा सुख-भोग की आकांक्षा तो करती ही रहती थी। और सुख-भोग के क्षण कभी-कभी ही मिल पाते है। इसलिए ये लोग ऐसे क्षणों को कंजूस के धन की तरह बाँध लेना चाहते थे। इसी ने इन्हें क्षणवादी बना दिया था—

'चाहता हूँ पा सकूँ
उस क्षण को
....नहीं....
क्षण के भी विभाजित
मात्र उतने अंश को
जितने में अनाहत धार जीवन की
अचानक मौत की काली गुहा में डूब जाती है।'

—जगदीश गुप्त

उपर्युक्त उद्धरणों से व्यक्तिवादी अनास्थामूलक काव्य का स्वरूप बहुत-कुछ स्पष्ट हो जाता है। इस काव्य मे ऐसी ही कुण्ठित गर्हित पलायनशील निराशावादी

भावनाओं की अभिव्यक्ति होती रही थी और इसके रचयिता कवि इसी को अभूतपूर्व उपलब्धि मान सन्तोष पाते रहते थे। ये कवि स्वभाव और विचारों से पलायनवादी और निराशावादी थे, इसलिए इन्हे दिन-रात अपने अस्तित्व के विघटन का काल्पनिक भय सताता रहता था। ये लोग सम्पूर्ण सामाजिक मूल्यों को नकारते हुए व्यक्ति के सुख-भोग की कल्पनाओं में डूबे रहते थे। आरम्भ में इस काव्य का खूब शोर मचता रहा था। परन्तु बाद मे जन-विरोध ने इनके इस स्वर को बदल दिया।

व्यक्तिपरक आस्थावादी काव्य

व्यक्ति स्वभाव से ईमानदार होता है। विषम परिस्थितियाँ या किसी प्रकार का लोभ, मोह या आकर्षण ही उसे बेईमान बना देता है। फिर भी जीवन में ऐसे क्षण आते रहते हैं, जब व्यक्ति ईमानदार होता है। हमारे उपर्युक्त अनास्थावादी, कुण्ठित और संत्रस्त कवियों के जीवन में भी ऐसे क्षण आए हैं, जब वे काल्पनिक अनुभूतियों को त्याग, आत्मा की पुकार सुन आस्था और उत्साह के गीत गा उठे थे। इनका दृष्टिकोण व्यक्तिवादी रहते हुए भी इनके काव्य में आस्था और विश्वास के स्वर फूटने लगे थे। ये लोग अब समाज को भी काफी महत्त्व देने लगे थे। ये समाज के विघटनकारी रूप को नष्ट कर स्वस्थ सृजन की आकांक्षा करने लगे थे। एक उदाहरण प्रस्तुत है। अपने अस्तित्व की रक्षा मे चिन्तित धर्मवीर भारती भोगवादी कवियों के अतिशय मांसल, विकृत और अनास्था भरे प्रेम के लिजलिजे रूप के विपरीत प्रेम का कैसा पावन और सुन्दर रूप प्रस्तुत कर सके है, यह उनकी निम्न पंक्तियो मे द्रष्टव्य है—

'जिस दिन तुमने फूल बिखेरे माथे पर,
अपने तुलसी-दल जैसे पावन होठों से,
मैं सहज तुम्हारे गर्म वक्ष में शीश छुपा,
चिड़िया के सहमे बच्चे-सा
हो गया मूक,
लेकिन उस दिन मेरी अलबेली वाणी में
थे बोल उठे,
गीता के मंजुल श्लोक, ऋचाएँ वेदों की।'

—'जाड़े की शाम'

यह कविता अनुपम है, अद्भुत है, पावन प्रेम की एक 'उज्ज्वल आलोक-किरण है। अज्ञेय भी अपने सम्पूर्ण व्यक्तिवाद को त्याग स्वयं को एक ऐसा 'सेतु' घोषित करते है जो 'विवेक की किरण' से मानव को एक करता है और जगदीश गुप्त सड़ी-गली परम्परा का विरोध करते हुए कहते है—

'विवेक की किरण से आलोकित जीवन में
'छुई-मुई की परम्परा' के लिए कोई स्थान नहीं है

छुई-मुई की भी क्या परम्परा,
बाहरी प्रभाव की अँगुलियों ने—
धीरे से
जहाँ हुआ, वहीं मुई।
परम्परा बरगद की,
शाखा से शाखा का अनुबन्धन,
तूफानों में भी जो अडिग रहे,
जिसकी जटिलता भी वन्दनीय,
—धरती को छूते ही मूल हुई।'

—'शब्द-दंश'

अज्ञेय ने अनुभव किया कि आस्था ही मानव की सबसे बड़ी शक्ति होती है—

'आस्था न काँपे
मानव फिर मिट्टी का भी
देवता हो जाता है।'

—'इन्द्रधनु रौंदे गए'

इस नई आस्था के कवियों ने विघटित अस्तित्त्व वाले, जीवात्मा के स्वाभाविक आदर्शों को, विश्वासों को गुमराह करने वाले, केवल अक्षरों और शब्दों में ही जीने वाले उन क्षणवादी, अनास्थावान कवियों को चेतावनी देते हुए कहा था—

'तुम्हारी बौनी कुण्ठित, अनुभूतिहीन विकारों के
ये रूपायित शब्द
ठहर सकेंगे क्या
आत्मा की उस ज्वाला में
जिसका तल है प्राणों में
जिजीविषा में।'

—सुयोगी . 'शब्दों के नगर'

इस वर्ग के कवि आस्था के नए स्वर गुंजाते हुए काव्य-क्षेत्र में उतरे थे। उन्होंने घोषित किया था कि—'चढ़ कर आया आज कर्म का युग नवीन।'' इस स्वर ने मानव को निराशा और संत्रास का दामन झटक कर्मण्य बनने का सन्देश दिया था। यह नया कवि युग की विषमताओं और विकृतियों के प्रति अधिक सजग और सम्वेदनशील था। वह जान रहा था कि जीवन-मूल्यों का तेजी से विघटन हो रहा है, इन्सानियत की कोई कीमत नहीं रह गई है। इसलिए वह आस्था का सम्बल ग्रहण कर संघर्षों से जूझता आगे बढ़ रहा था। वह 'जिन्दगी की मिठास का रस लेने के

लिए 'कटुता से खुलकर संघर्ष' करता चल रहा था। उसने बरगद जैसी अडिग परम्पराओं के स्वस्थ रूपों को अपनाते हुए उन्हें नए युग के नए परिवेश के अनुरूप उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया। साथ ही व्यंग और हास्य का सहारा लेते हुए परम्परा, धर्म, कला आदि के अनुर्वर, अनुपयोगी रूढ़ रूपों पर व्यंग भी किए।

इन नए-पुराने व्यक्तिवादी कवियों ने अपनी वैयक्तिक कुण्ठाओं, अनास्था और निराशा के उद्वेलित क्षणों से क्षणिक मुक्ति पाकर आस्था, प्रेम, सौन्दर्य, प्रकृति आदि के बड़े सुन्दर रूप अंकित किए। अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, भवानीप्रसाद मिश्र, धर्मवीर भारती, जगदीश गुप्त, केदारनाथ सिंह, नरेश मेहता, मदन वात्स्यायन, महेन्द्रकुमार मिश्र, घनश्याम अस्थाना आदि ने पावन प्रेम के मधुर गीत गाए, प्रकृति के बड़े स्वाभाविक मनोरम चित्र अंकित किए। यहाँ हम स्थानाभाव के कारण केवल जगदीश गुप्त की ऐसी एक कविता उद्धृत कर रहे हैं—

'कहीं-कहीं पर कुछ-कुछ डहडही
हरी-भरी अंकुरित यौवना
धरती कछार की।
ताजी सोंधी-सोंधी गन्ध लतर सी उलझी
आँचल को खींचती।
भराभर दुपहरी में
पानी में पाँव डाल
बैठी ढीठ
सूरज को दिए पीठ
भेद-भरी अँखियों से
मुड़-मुड़ कनखियों से—
देखती, लजाती अपने से ही,
फिर सहसा
खिल खिल खिल खिल हँसती
गदराई बाँहों में तन कसती
अनजानी अभी रीति प्यार की।'

—'शब्द-दंश'

यहाँ प्यार की रीति से अनजान वयःसन्धि में पग धरती 'अंकुरित यौवना' कछार की धरती का जो मोहक चित्र अंकित किया है, वह अनिन्द्य है, अनुपम है। इसमें मानवीकरण की अद्भुत छटा इस चित्र को अमर बना देती है। इस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी के व्यक्तिवादी कवियों ने केवल अनास्था, संत्रास और निराशा के ही गीत गाए हैं। उन्होंने नई कविता को सजाया-सँवारा है, उसे नया रूप और शक्ति प्रदान की है शिल्प की शब्द की अलकारों की

उन्होंने आस्था और विश्वास के गीत भी गाए हैं, समाज के दु:ख-दर्द को भी अभिव्यक्ति प्रदान की है। यहाँ हम स्थानाभाव के कारण इस सब का विस्तृत विवेचन करने मे असमर्थ हैं। पीछे दिए हुए उदाहरण इसका एक सामान्य विवेचन प्रस्तुत कर देते है। अस्तु.

नवगीत

हिन्दी में गीत-काव्य की एक समृद्ध परम्परा रही है। आज भी अनेक कवि नित-नए गीतों का सृजन कर रहे है। परन्तु कुछ कवियों ने सस्ती प्रसिद्धि के मोह मे पड़ 'नवगीत' का एक नया आन्दोलन खड़ा कर दिया था और फिर 'नवगीत' की नई-नई व्याख्याएँ करने में जुट गए थे। एक प्रकार से 'नवगीत' को प्रयोगवादी 'नई कविता' का पूरक स्वीकार किया गया। क्योंकि ये गीतकार प्रतीक, अप्रस्तुत विधान, छन्द, भाषा आदि के नए-नए रूपों का प्रयोग कर रहे थे। परन्तु इन्होंने गीतकाव्य के विशिष्ट गुण—भावात्मकता, अनुभूति की सहजता, लयात्मकता और प्रेषणीयता— को यथावत् स्वीकार कर लिया था। भाषा में लोकभाषा की सहज भंगिमा और लोकगीतों की संगीतात्मकता को अपनाया था। डा० रामदरश मिश्र ने, जो स्वयं एक अच्छे गीतकार हैं, 'नवगीत' की व्याख्या करते हुए लिखा है—

"अनुभूति की सचाई, अतएव अनुभूति की अपनी-अपनी विशिष्टता, नवीन सौन्दर्य-बोध, आकार लघुता, नवीन बिम्ब-प्रतीक-उपमान-योजना इनकी सामान्य विशिष्टता है। अतएव ये गीत अन्विति से अन्तर्दीप्त मालूम पडते हैं। इन सभी गीतो मे लोक-जीवन का रस है; इस अर्थ में नही कि इन्होंने प्रचलित गीतों की तरह लोक-भाषा से दूध-बताशा, पनघट, बँसवट, चुनरिया, ओढ़निया आदि अनेक शब्द लिए है बल्कि इसमें है कि इन्होंने लोक-जीवन की वस्तु-चेतना को पकड़ा है, उसकी सम्वेदना को ग्रहण किया है। ये गीत जहाँ से उठे हैं, वहाँ की जमीन के रस को लिए हुए है। अत. इन गीतों में शहरी, गँवई, व्यक्तिगत, सामाजिक, प्रेम की, प्रेमेतर प्रकार की सम्वेदनाओं के विभिन्न स्वरूप कवियों के व्यक्तित्वों और मानस-संस्कारो के अनुसार लक्षित होते हैं। दूसरी बात यह है कि नए गीत मे रस-पिच्छलता नही है, अन्तर की दमक है। इन गीतों की उपलब्धि इनके तरल-सरल रसमय उच्छल प्रवाह और आवेगों में नही है, बल्कि इनकी बुद्धि-संयत हार्दिकता, सम्वेदना के अनुभूत सूक्ष्म स्तरो के नियोजन, एक विशेप प्रभाव-भूमि के अन्तर्गत आने वाले बिखरे किन्तु एक दूसरे संक्रमित बोधों के सश्लेषण और अनुकूल बिम्बों, प्रतीकों और लाक्षणिक खोज मे है। कवि अपने-अपने सस्कार के अनुसार इस सामान्य भूमि पर नूतन बिम्ब-प्रतीको का विधान करते चले है।"

हो सकता है डा० मिश्र का नवीनता का उपर्युक्त दावा सही हो, परन्तु सचाई यह है कि यह तथाकथित नवगीत हिन्दी के परम्परागत गीत-काव्य का ही विकसित रूप है। डा० कुन्दनलाल उप्रेती इस नवीन संज्ञा 'नवगीत' का विरोध करते हुए लिखते हैं

"यदि परम्परागत भाषा, छन्द और भावों के प्रति विद्रोह तथा सहज भाषा मे सांकेतिक और प्रतीकात्मक पद्धति से सूक्ष्मतम मानवीय अनुभूतियों की अभिव्यक्ति ही 'नवगीत' है, तो नवगीत का आरम्भ निराला से ही स्वीकार करना चाहिए। उनकी 'गीतिका' के गीत सहज भाषा और संक्षिप्तता की दृष्टि से 'नवगीत' के सुन्दर उदाहरण हैं।"

समिष्ट रूप से आधुनिक गीतकाव्य के विकास मे व्यक्तिवादी और समाजवादी—सभी धाराओं के कवियों का योगदान रहा है। अज्ञेय, नरेश मेहता, नरेन्द्र शर्मा, हरिनारायण व्यास, नीरज, रामावतार त्यागी, वीरेन्द्र मिश्र, जगदीश गुप्त, ठाकुरप्रसाद सिंह, भवानी प्रसाद मिश्र, राजेन्द्र किशोर, घनश्याम अस्थाना, सोम ठाकुर, मलयज, जगतप्रकाश चतुर्वेदी, राधेश्याम प्रगल्भ, शलभ, शिवबहादुर सिंह भदौरिया, भारत भूषण तथा अन्य अनेक गीतकारों ने नित-नए मधुर गीतों का सृजन करते हुए हिन्दी गीतकाव्य को एक नया उत्कर्ष, विशिष्टता और प्रांजलता प्रदान की है। यहाँ हम इनके विभिन्न गीतों के उदाहरण न दे केवल एक ही ऐसा गीत उद्धृत करना चाहेंगे जो नवगीत का भली-भाँति प्रतिनिधित्व करने में समर्थ है। यह गीत रामावतार त्यागी का है। इसकी नई प्रतीक-योजना, नया और ताजा-सा बिम्ब-विधान, भाषा की सहज सम्प्रेषणीयता आदि द्रष्टव्य हैं। गीत इस प्रकार है—

'कुछ इस तरह तुम्हारे कुन्तल की परछाईं मुझे छू गई
जैसे मेरे भाल अचानक तुमने चौपाई लिख दी हो
यह सहसा गुलाब-सा मेरा
जो हर दाग हुआ जाता है
मेरा रेगिस्तान गजब है
देखो बाग हुआ जाता है
तुमने दृष्टि चुरा कर मुझ से यों कुछ हरसिंगार को देखा
जैसे मेरे जन्मलग्न में तुमने अमराई लिख दी हो
अब मैं किसी मोमबत्ती-सा
सारी रात जलूँ क्या गम है
इतनी बड़ी भीड़ में तुमको
मेरा नाम याद, क्या कम है
मेरे द्वार पड़े काँटे को तुमने यों चुपचाप चुन लिया,
मेरे स्वप्न-स्वप्न पर तुमने जैसे शहनाई लिख दी हो।'

—साप्ताहिक हिन्दुस्तान : १३ अक्टूबर, १९७४ से साभार

हिन्दी के ऐसे नए और सुन्दर गीतों की बहार कवि-सम्मेलनों में एक नया रस और आकर्षण उत्पन्न कर देती है। इन कवि-सम्मेलनों के माध्यम से हिन्दी की नई कविता जन-सामान्य तक पहुँचने मे समर्थ हुई है। यह उसकी शक्ति और सफलता का प्रमाण है

प्रबन्ध-काव्य

नई कविता के इस दौर में मुक्तक-काव्य के साथ-साथ प्रबन्ध-काव्य भी पर्याप्त संख्या में लिखे जाते रहे है। इन प्रबन्ध-काव्यों में पौराणिक और ऐतिहासिक तथा आधुनिक युग से सम्बन्धित, दोनों प्रकार के प्रबन्ध-काव्य लिखे गए हैं। इनके लेखकों मे नए और पुराने दोनों पीढियो के कवि हैं। वैसे तो इस काल में शताधिक प्रबन्ध-काव्य लिखे गए है, परन्तु महत्त्व की दृष्टि से उनमें से निम्नलिखित प्रबन्ध-काव्य उल्लेखनीय माने जा सकते है —

उर्वशी, कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी (दिनकर), जय भारत, विष्णुप्रिया (मैथिलीशरण गुप्त), उन्मुक्त (सियारामशरण गुप्त), विक्रमादित्य (गुरुभक्तसिंह), लोकायतन (सुमित्रानन्दन पन्त), ऋतम्बरा (केदारनाथ मिश्र प्रभात), कनुप्रिया (धर्मवीर भारती), महामानव (ठाकुरप्रसाद सिंह), द्रौपदी (नरेन्द्र शर्मा), आत्मजयी (कुँवर नारायण), वाणाम्बरी (रामावतार पोद्दार 'अरुण'), आर्यावर्त (मोहनलाल महतो 'वियोगी'), मेधावी (रागेय राघव)।

ये प्रबन्ध-काव्य पर्याप्त चर्चा के विषय बने रहे है। इनमे से 'उर्वशी' तथा 'लोकायतन' को महाकाव्य माना गया है। समष्टि रूप से, प्रबन्ध-काव्य-रचना की दृष्टि से इस युग की हिन्दी-कविता को पर्याप्त समृद्ध माना जा सकता है।

नए युग-बोध की कविता

इस युग में रची जा रही नई कविता के कवियों के सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि इन्होंने सभी प्रकार की रूढ़ परम्पराओं से हिन्दी-कविता को मुक्ति दिला दी है। अब वादों की विभाजक रेखाएँ टूट चुकी हैं। इसी कारण आज की कविता दलगत राजनीति के प्रभावों से बहुत-कुछ मुक्त हो, समय की माँग को पहचानती हुई मुक्त भाव मे आगे बढ़ती चली जा रही है। आज उसमें परम्परा, प्रगति और प्रयोग का मिला-जुला स्वस्थ रूप उभर रहा है। इस कविता में वर्तमान युग अपने सम्पूर्ण परिवेश के साथ प्रतिबिम्बित हो रहा है, क्योंकि यह कविता युग के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बनाए रही है। युग की बदलती सम-विषम परिस्थितियो ने इसमें अभिव्यक्ति पाई है—उल्लास, हताशा, अनास्था, आस्था, विश्वास, पलायन, उत्साह, क्षोभ, आक्रोश, व्यंग और तल्खी के विभिन्न स्वर इसमें गूँजते रहे हैं। इसी-लिए हमने इसे युग-बोध की कविता माना है। यह जीवन को राह बताती है, प्रभावित करती है। त्रिलोचन के शब्दों में—

'हिन्दी की कविता उनकी कविता है जिनकी
साँसों को आराम नहीं था, और जिन्होंने
सारा जीवन लगा दिया कल्मष धोने
में समाज के, नहीं काम करने में घिन की
कभी किसी दिन।'

हमे नई कविता के सम्बन्ध मे एक अन्तिम बात और कहनी है। नई कविता

के सम्बन्ध में त्रिलोचन का उपर्युक्त कथन अक्षरशः सत्य है। आरम्भ में नई कविता के कवियों ने छायावादी कवियों के अनुकरण पर ही, यह प्रवृत्ति अधिक रही थी कि वे अपने-अपने काव्य-संग्रहों की लम्बी-लम्बी भूमिकाएँ लिखकर अपने मत-मान्यताओं का विस्तृत स्पष्टीकरण दिया करते थे। इसका कारण यह था कि वे मन में यह महसूस करते थे कि पाठक उनकी बात को पूरी तरह नहीं समझ पायेंगे। इसी प्रवृत्ति का विरोध करते हुए गिरिजाकुमार माथुर ने लिखा था—"आज इसकी अत्यधिक आवश्यकता है कि नया कवि कुछ ठोस रचना और साहित्यिक निर्माण की ओर ध्यान दे, अपने मन और मान्यताओं का स्पष्टीकरण और पुनः स्पष्टीकरण ज़रा कम करे।"

—आलोचना, जुलाई १९५४

वास्तविकता यह है कि नए कवियों को यह स्पष्टीकरण आलोचकों को ध्यान में रखकर ही अधिक करना पड़ता था, क्योंकि पुरानी मान्यताओं से चिपके आलोचक उनके साथ न्याय नहीं कर पाते थे। परम्परा से बँधे आलोचक प्रायः नई बातों की उपेक्षा ही अधिक करते रहे हैं। इसके विपरीत कुछ आलोचक ऐसे भी होते हैं जो आँख मूँद कर किन्हीं खास प्रवृत्तियों अथवा साहित्यकारों का समर्थन या विरोध करने में जुटे रहते हैं। ऐसे आलोचक, बँधी दृष्टि होने के कारण सबके साथ न्याय नहीं कर पाते। इसका कारण यह है कि उनकी आलोचना समर्थन या विरोध की आवेशपूर्ण मनःस्थिति में लिखी जाती है। आवेश कवियों का तो गुण होता है, परन्तु आलोचकों का सबसे बड़ा अवगुण। इसी कारण साहित्य में प्रभाववादी आलोचना को अधिक उपादेय अथवा निष्पक्ष नहीं माना जाता। इसलिए हमारे आलोचकों को अपने सारे पूर्वाग्रहों से मुक्त हो नई कविता का मूल्यांकन करना होगा। तभी वे उसके साथ उचित न्याय कर सकेंगे; पाठक भी तभी इस नई कविता का रसास्वादन करने और उसे समझने में समर्थ होंगे। काव्य के क्षेत्र में नई और पुरानी पीढ़ियों की विभाजक-रेखा खींचना व्यर्थ है। नई और पुरानी पीढ़ियों का द्वन्द्व अनादि काल से चलता चला आ रहा है। हमारे पुरखों की नज़र में हम नालायक थे और हमारी नजर में हमारी औलाद नालायक है। परन्तु यह द्वन्द्व विकास का द्योतक है, न कि अवरोध का।

कुछ समय उपरान्त जब आज के 'नए कवि' पुराने अथवा प्रौढ़ हो जायेंगे, नये आने वाले नए कवि उनसे भिन्न प्रकार की कविताएँ लिखने लगेंगे। यह काल-धर्म है, इतिहास की अविरल परम्परा है। वर्तमान से असन्तोष ही आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। हिन्दी की नई कविता के कवियों में वर्तमान के प्रति असन्तोष तो है ही, साथ ही भविष्य के प्रति गहरी आस्था भी है। नया कवि जीवन की विषमताओं से संघर्ष करता आगे बढ़ रहा है। उसे अपनी निरन्तर गतिशील बने रहने की, मार्ग में पड़ने वाली हिमालय सरीखी प्रचण्ड बाधाओं पर भी विजय पाते रहने की दुर्द्धर्ष शक्ति में अटूट और अगाध आस्था है

'पथ की सरलता को देख कर
दो-चार डग जब बढ़ गया
मेरी नज़र के सामने
आकर हिमालय अड़ गया
पथ के अथक अभ्यास पर
विश्वास बढ़ता ही गया ।' —शिवमंगलसिंह 'सुमन'

सुमन जैसे कवियों का यह दृढ विश्वास देखकर ही यह आशा बँधती है कि हिन्दी-कविता का भविष्य उज्ज्वल है । उसका आधुनिक रूप न संकीर्ण है, न उथला । वह निरन्तर अधिक गहरा, विस्तृत और प्रांजल बनता चला जा रहा है ।

३

रस-सिद्धान्त और नई कविता

- रस-सिद्धान्त का विरोध, विरोध के कारण : प्रगतिवादियों द्वारा प्रस्तुत, नई कविता द्वारा विरोध
- नई कविता और रागात्मकता, डा० नगेन्द्र और रागात्मकता।
- बौद्धिक साधारणीकरण की समस्या : डा० तारकनाथ बाली
- बुद्धि-तत्त्व और भाव-तत्त्व का सन्तुलन, सामाजिकता की प्रधानता
- व्यक्तिनिष्ठ परिस्थिति और साधारणीकरण, नई कविता और साधारणीकरण
- द्वन्द्व और असामंजस्य की समस्या
- अतीतोन्मुखता
- आत्म-विलयन की समस्या
- निष्कर्ष

रस-सिद्धान्त का विरोध

नई कविता के कवियों का यह कहना है कि नई कविता पर रस-सिद्धान्त लागू नहीं होता; क्योंकि यह कविता बौद्धिकता-प्रधान है और साधारणीकरण राग का ही हो सकता है, न कि विचारों का। और रस-सिद्धान्त के अनुसार कवि के भावों के साथ पाठकों का पूर्ण तादात्म्य होना अनिवार्य माना गया है। अर्थात् कवि द्वारा व्यक्त भाव की पाठको द्वारा भी वैसी ही अनुभूति होना साधारणीकरण की स्थिति होती है। इसी भाव के साधारणीकरण को रस-सिद्धान्त का मूल लक्ष्य माना गया है। नई कविता इस लक्ष्य को पूरा नहीं करती, इसलिए रस-सिद्धान्त की कसौटी पर उसका मूल्यांकन करना अनुचित और अव्यावहारिक होगा।

वस्तुतः रस-सिद्धान्त का नई कविता के कवियों द्वारा किया जाने वाला यह विरोध नया नही है। उनसे बहुत पहले कुछ छायावादी-कवियों ने भी रस-सिद्धान्त का विरोध किया गया था। उसके बाद प्रगतिवादी-आलोचक भी रस-सिद्धान्त का विरोध

करते रहे। और इन सभी ने बौद्धिकता के आधार पर ही यह विरोध किया था। सम्भवतः छायावादियों द्वारा रस-सिद्धान्त का विरोध किए जाने पर ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को रस की नई व्याख्या करनी पड़ी थी और इस व्याख्या द्वारा उन्होंने रस को एक नई दीप्ति प्रदान करने में सफलता पाई थी। इस विषय को आगे बढाने से पूर्व हमें उन कारणों तथा तर्कों को संक्षेप में जान लेना चाहिए, जिन्हे आधार बना नई कविता वाले रस-सिद्धान्त का विरोध करते रहे हैं।

विरोध के कारण · प्रगतिवादियों द्वारा प्रस्तुत

नई कविता मे प्रगतिवादी-चेतना के स्वर काफी प्रबल है, इसलिए पहले यह देख लेना चाहिए कि प्रगतिवादियों ने रस-सिद्धान्त का विरोध क्यों किया था ? डा० रामविलास शर्मा का कहना था कि प्रगतिवादी-काव्य संघर्ष का काव्य है। इस सघर्ष का उद्देश्य है—राष्ट्रीय स्वाधीनता, जनतंत्र की स्थापना, साम्राज्यवाद-सामन्तवाद की सस्कृति का उन्मूलन और शान्ति। इसका दृष्टिकोण वैज्ञानिक है। शिवदानसिंह चौहान ने लिखा था कि प्रगतिवादी साहित्य "—आनन्दमयी मूल्यों पर आधृत न होकर चेतना-विकासी नैतिक मूल्यों पर आधृत है।" अर्थात् चेतना (बौद्धिकता) का अधिक आग्रह रहने के कारण ही प्रगतिवादी-साहित्य पर रस-सिद्धान्त लागू नहीं होता। समष्टि रूप से प्रगतिवादियों ने अपने इस विरोध के दो कारण प्रस्तुत किए थे : पहला—"रसवाद का आधार केवल आनन्द है; मानव-चेतना के विकास और मानव-कल्याण के प्रति वह उदासीन है": दूसरा—"रस एक आध्यात्मिक या अर्ध-आध्यात्मिक कल्पना है जो आभिजात्यवादी अथवा सामन्तवादी युग की अनेक प्रवंचक धारणाओं के समान मिथ्या एवं जनकल्याण-विरोधी है।" प्रगतिवाद अध्यात्म का विरोधी है और काव्य से प्राप्त आनन्द को, अर्थात् रसास्वादन के आनन्द को 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' कह दिया गया था, इसी कारण प्रगतिवादियों ने उसे ब्रह्म अर्थात् अध्यात्म से जोड़ दिया था। डा० नगेन्द्र ने इन दोनों आरोपों का खण्डन करते हुए लिखा है—"वास्तव में ये दोनों धारणाएँ ही अशुद्ध हैं : रस 'प्लेज़र', 'लज्ज़त' या विनोद का पर्याय कभी नहीं माना गया, वह आनन्द का पर्याय है, जो व्यष्टि एव समष्टि के कल्याण की अन्तिम परिणति है। अतः पहली धारणा तो आनन्द और कल्याण की मिथ्या भेद-कल्पना पर आश्रित है और दूसरी धारणा का आधार है—रस की आध्यात्मिक-कल्पना-विषयक भ्रान्ति।"

इस बात को इस प्रकार भी समझा जा सकता है। रस-सिद्धान्त के अनुसार कवि अपने पाठकों के भाव का साधारणीकरण कर, धीरे-धीरे भाव का परिष्कार करता उसे उदात्त बना देता है। और भाव के उदात्तीकरण में मानव-मात्र के कल्याण की भावना निहित रहती है। इस प्रकार रसवाद लोक-कल्याण का एक व्यापक आधार प्रस्तुत कर देता है। डा० नगेन्द्र ने एक प्रकार से इसी तथ्य के प्रति संकेत करते हुए लिखा है—"मानवीय सम्वेदना और सौन्दर्य-बोध का विकास रसवाद का भी लक्ष्य

है, नैतिक मूल्यों को भी वह पूर्ण आग्रह के साथ स्वीकार करता है; आशा का संचार, कर्म-चेतना की स्फूर्ति, व्यक्तिगत क्षुद्रताओं से मुक्ति, निराशा एवं कुण्ठा का उच्छेद रसवाद के भी आधारभूत लक्षण है।'' प्रगतिवादी इन्हीं को साहित्य का लक्ष्य मानते है। फिर दोनो मे अन्तर या विरोध कहाँ रह जाता है?

नई कविता द्वारा विरोध

डा० नगेन्द्र ने नई कविता की विशेषताओं का विवेचन करते हुए उन आधारो तथा तर्कों को प्रस्तुत किया है, जिन्हे आधार बना नई कविता वाले रस-सिद्धान्त का विरोध करते है। डा० नगेन्द्र ने उन तर्कों को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

(क) रस का आधार है—समाहिति, अद्वन्द्व किन्तु नई कविता द्वन्द्व और असामंजस्य की कविता है।

(ख) नई कविता वर्तमान पर केन्द्रित है, जबकि रस की दृष्टि अतीतोन्मुखी रहती है—नई कविता का विषय है क्षण की अनुभूति जबकि रस का आधार है वासना और स्थायी भाव।

(ग) रस-सिद्धान्त में कवि के व्यक्तित्व की पूर्ण उपेक्षा है—अत. रसानुभूति मे केवल अव्यक्तिगत भावना का आस्वादन ही सम्भव है; किन्तु आज की कविता का सम्वेद्य अत्यन्त व्यक्तिपरक अनुभूति है 'जिसे रसानुभूति के समकक्ष सह-अनुभूति की संज्ञा दी जा सकती है'।[1] 'रसानुभूति में व्यक्ति और विवेक का परिहार होना आवश्यक है, किन्तु सह-अनुभूति का आस्वादन व्यक्ति-चेतना के साथ ही हो सकता है। आत्म-विलयन के आनन्द और भावावेग के परिपाक की दृष्टि से रसानुभूति अवश्य ही उत्कृष्ट कोटि की कही जायगी, परन्तु मानवीयता के विचार से सह-अनुभूति को उससे उत्कृष्टतर मानना ही विवेक-संगत दिखाई देता है।'[2]

(घ) परिणामतः नई कविता की अनुभूति निरानन्दमयी है। नयी कविता आकर्षण को नही, विकर्षण को भी टटोलती है। व्यंग्य करना, चोट करना, झकझोर देना, ध्यान में डूबे हुए को जैसे टोक देना और कुछ सोचने पर मजबूर करना उसका स्वभाव है। वह रिझाती कम है, मताती अधिक है—कभी-कभी वह जीवन के भयानक तथ्यों की ओर संकेत करके हमे सहमा देती है।[3]

(ङ) नई कविता का मूल स्वर बौद्धिक है, रागात्मक नहीं। 'उसमें एक अन्तर्निहित आलोचनात्मकता मिलती है, यथार्थ-चित्रण का आग्रह, सूक्ष्म व्यंग्य तथा शैलीगत वैचित्र्य एवं नए-नए अर्थों को ध्वनित करने वाला अभिनव प्रतीक-विधान, आदि, जिन्हें नई कविता की प्रमुख विशेषताएँ कहा जाता है, सभी के पीछे प्रेरणा का बुद्धिगत रूप स्पष्ट झलकता है।'[4]

(च) 'रसवादी कविता के प्रायः सभी प्रमुख लक्षण नई कविता मे नहीं मिलते,

---

१ नई कविता : डा० जगदीश गुप्त २ वही ३ वही ४ वही

यहाँ तक कि भावुकता की भी कमी रहती है। तुकान्त, छन्द, गेयता तथा पुनरावृत्ति आदि का अभाव या इसके प्रति उदासीनता भी बौद्धिकता का ही सहज परिणाम है। 'अनगढ़पन में ही वह निखरती है। सजाने-सँवारने, खराद पर चढाने और माँजने मे उसकी सहजता नष्ट होती है'।[1]

रसवाद का विरोध करते हुए नई कविता के समर्थन मे डा० जगदीश गुप्त ने उपर्युक्त जो तर्क दिए है, उनके सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि डा० जगदीश गुप्त स्वयं प्रयोगवादी कवि और प्रयोगवादी-कविता को ही 'नई कविता' के नाम से सम्पादित-प्रचारित करने वाले प्रमुख कवि-आलोचक रहे है। इसलिए उनके ये तर्क, बहुत खीचतान कर नई कविता के उसी अंश पर लागू किए जा सकते है, जो प्रयोगवाद से प्रभावित है, सम्पूर्ण नई कविता पर नही। नई कविता का अधिकांश ऐसा है जो रस-सिद्धान्त की कसौटी पर खरा उतरता है। डा० नगेन्द्र ने उपर्युक्त सभी तर्कों का खण्डन करते हुए यह सिद्ध किया है कि नई कविता का रसवाद से कोई विरोध नही है। परन्तु डा० नगेन्द्र के तर्कों को देखने से पहले हमें कविता के सन्दर्भ मे रागात्मकता और बौद्धिकता की समस्या को हल कर लेना चाहिए।

नई कविता और रागात्मकता

नई कविता को लेकर रसवाद का विरोध करने वालों का एक प्रमुख तर्क यह रहा है कि नई कविता रागात्मक न होकर बौद्धिकता-प्रधान है। इस सम्बन्ध में उनका यह कहना है कि अब जीवन इतना अधिक जटिल और तीव्रगामी हो गया है कि उसमें भावुकता के लिए कोई स्थान नही रहा है, कि राग का अब कविता में कोई स्थान नही रहा है। प्रखर बौद्धिकता से सम्पन्न आज का जटिलताग्रस्त विज्ञान-युगीन मानव न राग-प्रधान कविता लिख सकता है और न उससे सन्तुष्ट ही हो सकता है। रसवाद का मूलाधार राग है, इसलिए रागात्मकता की उपेक्षा करने के कारण नई कविता की रसवाद से पटरी नहीं बैठ सकती।

यह माना कि आज का मानव अधिक बौद्धिक है, आज के अनेक कवियो की सम्वेदनाएँ जटिल और संश्लिष्ट है। परन्तु इससे यह तो सिद्ध नही हो जाता कि भावुकता या राग आधुनिक जीवन मे समाप्त हो गया है। कम-से-कम भारतीय-समाज के सम्बन्ध मे तो यह बात कही ही नहीं जा सकती। युग बदलता है, उसके साथ जन-मानस भी बदलता है। नई रुचि और नई दृष्टि का उन्मेष होता है। और प्रतिभा का तो यह स्वभाव ही है कि वह परम्परा का उल्लंघन कर नवोन्मेष और नई सृष्टि करती है। परन्तु वह नया कलेवर देने में ही सक्षम है, नई आत्मा डालने मे नही। बुद्धि-तत्त्व की सत्ता काव्य में आवश्यक है, परन्तु वह काव्य का एक गौण तत्त्व

---

१ डा० जगदीश गुप्त : नई कविता

है। काव्य का मूल तत्त्व अर्थात् आत्मा राग रहा है और सदैव रहेगा। राग-रहित बौद्धिकता सुन्दर काव्य का सृजन नही कर सकती।

डा० उदयभानु सिंह 'लालित्य' शब्द का 'राग' के अर्थ मे प्रयोग कर कविता में 'राग' की अवस्थिति अनिवार्य मानते है। उनकी दृष्टि में 'रमणीयता या लालित्य कविता का व्यापर्तक धर्म है।' उनके अनुसार 'नई कविता के सन्दर्भ में रस-सिद्धान्त की अपेक्षा ध्वनि-सिद्धान्त कही अधिक उपयोगी है। उसका रस से भी विरोध नही है, क्योंकि रस ध्वनि का ही एक प्रकार है।' परन्तु वे प्रकारान्तर से रस को कविता-मात्र के लिए अनिवार्य घोषित करते हुए लिखते है—

"किसी भी लालित्यमयी रचना से प्राप्त आनन्दानुभूति रस है। लालित्य-विधान में किसी-न-किसी चित्तवृत्ति की अभिव्यक्ति होती ही है। उसके भावन से सहृदय की तत्सम्वादी चित्तवृत्ति का उदय होता है। रचना का कलात्मक सौन्दर्य सहृदय के अन्तःकरण को असाधारणता (व्यक्तिगत, विशिष्ट सम्बन्धो) से मुक्त कर देता है। इस प्रकार साधारणीकृत अन्तःकरण के द्वारा साधारणीकृत चित्तवृत्ति का आस्वाद करता हुआ सहृदय आनन्दानुभूति करता है। यही रस है। इसके लिए साधारणीकरण अनिवार्य है। 'नई कविता' कही जाने वाली जिस रचना से इस आनन्द की अनुभूति नहीं होती, वह 'नई' भले ही हो किन्तु कविता नही है। उसके लिए 'अकविता' शब्द ही उपयुक्त है।"—रस और साधारणीकरण

उपर्युक्त उद्धरण में प्रयुक्त 'चित्तवृत्ति' शब्द भाव का द्योतक है। भाव अर्थात् भावुकता। और भावुकता को ही रागात्मकता कहा जाता है। अर्थात् काव्य में 'राग' तत्त्व अनिवार्य है।

डा० बच्चनसिंह 'रसानुभूति' को काव्य का लक्ष्य मानते हुए एक ओर उसे 'मूल्यों' से जोड़ देते है, दूसरी ओर रस-सिद्धान्त को समीक्षा का पूर्ण उपादान भी नही मानते। वह अपनी इस उलझन का समाधान शुक्लजी की दुहाई देकर करने का प्रयत्न करते है। उनका कहना है कि शुक्लजी ने रस की नई व्याख्या कर 'मूल्यों' को उभारा था और रस को उचित गौरव प्रदान किया था। फिर आगे कहते है—"अनेक प्रकार के जटिल मूल्यों की निष्पत्ति रसानुभूति के रूप में ही होगी, अन्यथा वह काव्य नहीं होगा। नई कविता की रसानुभूति भिन्न कोटि की होगी। भिन्न रसानुभूति का मतलब रस के दर्जो से नहीं है, उनकी आस्वाद्यता से है। एक ही स्वर अनेक 'शेड्स' में आस्वाद्य तो है ही।"—'कविता और नई कविता'

अर्थात् डा० बच्चनसिंह 'रसानुभूति' को कविता के लिए अनिवार्य मानते है, चाहे वह भिन्न कोटि की ही हो। अर्थात् उनकी दृष्टि मे भी 'रागात्मकता' काव्य का प्रमुख तत्त्व है। क्योंकि रसानुभूति भाव की होती है, न कि बौद्धिकता की।

डा० नगेन्द्र और रागात्मकता

डा उदयभानुसिंह काव्य के सन्दर्भ मे रस सिद्धान्त की अपेक्षा ध्वनि

सिद्धान्त को ही अधिक ग्राह्य और समीचीन मानते है। डा० नगेन्द्र ने इन दोनो काव्य-सिद्धान्तों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"ध्वनि और रस का सम्बन्ध और भी अन्तरंग है, क्योंकि दोनों की प्रकल्पना सहृदयनिष्ठ है। दोनों मे भेद केवल यही है कि रस-सिद्धान्त जहाँ कल्पनात्मक भावना को कवित्व का प्राणतत्व मानता है, वहाँ ध्वनि-सिद्धान्त भाव-रंजित कल्पना को; और यह भेद वास्तव मे इतना सूक्ष्म है कि कालान्तर में इसका एक प्रकार से लोप ही हो गया।"

अब प्रश्न उठता है—काव्य और राग के परस्पर सम्बन्ध का। यूरोप के कवि इलियट ने, नई कविता के कवि जिसकी दुहाई देते नहीं थकते, भाव और लय को सम्बद्ध मानते हुए यह कहा कि मानवात्मा गहरे भावोत्तेजन की स्थिति में ही काव्य का सृजन करती है। अर्थात् इलियट भाव को काव्य का मूल उत्प्रेरक मानता है। और भाव राग है। इलियट ने स्पष्ट कहा है कि—"दिस (पोइटिक) फंक्शन इज नॉट इंन्टलैक्चुअल बट इमोशनल ···इट प्रोवाइड्स कान्सोलेशन, स्ट्रेंज कान्सोलेशन।" अर्थात् इलियट काव्य-रचना-प्रक्रिया को बौद्धिक न मान रागात्मक मानता है। हिन्दी के कवि अज्ञेय कविता में मानवीय अनुभूति या रागबन्ध के प्रबल समर्थक है और गिरिजाकुमार माथुर रागात्मकता को काव्य का मूल मानते हैं। डा० जगदीश गुप्त भी काव्य मे बुद्धि-तत्त्व की अपेक्षा मानवीय सह-अनुभूति, सम्वेदना आदि का ही बार-बार उल्लेख करते है। इसका राग से गहरा और अनिवार्य सम्बन्ध है।

डा० नगेन्द्र ने इस समस्या को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"··· रस-सिद्धान्त का बुद्धि-तत्त्व के साथ उतना विरोध नहीं है जितना कि नई कविता के समर्थक समझते है।····यथार्थ-चित्रण में भी रस होता है, और व्यंग्य का रस से क्या विरोध? उसमे तो करुणा, हास्य, अमर्ष आदि भावों की सत्ता निश्चित रूप से रहती है, जो मूलतः मानवीय सम्वेदना पर आश्रित होते हैं। दूसरे, हृदय-तत्त्व की अपेक्षा बुद्धि-तत्त्व की प्रधानता भी तो नई कविता का सर्व-स्वीकृत लक्षण नहीं है।····इस प्रकार रस के बन्धन से मुक्त होने के लिए नई कविता के प्रायः समस्त प्रयास विफल हो जाते हैं, जहाँ कही कोई प्रयास सफल हो जाता है, वही कवि की बौद्धिक सफलता के साथ एक दुर्घटना भी घटती है—और वह यह कि कविता अकविता बन जाती है। वास्तव में नई कविता का भी कल्याण इसी में है कि वह इन रसमय बन्धनों को स्वीकार कर ले और इसमे उसे इतिहास से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। चालीस वर्ष पूर्व छायावाद ने भी रस का विरोध किया था, पर आज रस ही उसका प्राण-सर्वस्व है; उसके प्राय. दो दशक बाद प्रगतिवाद ने उस पर प्रहार किया था, किन्तु आज उसका जितना भी अंश अवशिष्ट है, वह रस के आधार पर ही जीवित है।"

—'रस-सिद्धान्त'

अर्थात् डा० नगेन्द्र रस को कविता का प्राण-सर्वस्व मानते हैं। जो कविता रसहीन है, उसे कविता न मानकर अकविता ही माना जायेगा।

बौद्धिक-साधारणीकरण की समस्या : डा० तारकनाथ बाली

नई कविता को बुद्धि-प्रधान कहा गया है और साधारणीकरण भाव का ही हो सकता है, बुद्धि अर्थात् विचारों का नहीं। फिर नई कविता का साधारणीकरण कैसे होगा ? रस-सिद्धान्त के विरोधी तो साधारणीकरण की प्रक्रिया को मानते ही नहीं। क्योंकि साधारणीकरण की दशा में भावक केवल एक ही भाव की गहन अनुभूति में इतना गहरा डूब जाता है कि उसकी सारी चेतना शून्य हो जाती है, उसे अन्य किसी भी बात का होश नहीं रहता। परन्तु डा० तारकनाथ बाली का कहना है कि बौद्धिक-साधारणीकरण भी हो सकता है, और होता है। अपनी इस स्थापना के समर्थन में उन्होंने साधारणीकरण की नई वैज्ञानिक व्याख्या की है। उनका कहना है कि 'यह कहना गलत है कि केवल भाव का ही साधारणीकरण होता है अथवा हो सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार काव्य की सर्वांगीण विवेचना नहीं की जा सकती। क्योंकि 'साधारणीकरण की प्रक्रिया काव्य के किसी एक पहलू से सम्बद्ध न होकर उसकी समग्रता से सम्बद्ध है।'

उपर्युक्त वाक्य में 'समग्रता' शब्द ही उसकी कुंजी है, इसलिए पहले उसे समझ लेना चाहिए। डा० बाली के अनुसार 'काव्य रस-स्थिति की समग्रता का विशेषण है।' उन्होंने उसका उदाहरण देते हुए लिखा है—

"शृंगार रस की अनुभूति वहीं होती है जहाँ दुष्यन्त और शकुन्तला की रति का वर्णन है। जहाँ रावण सीता के प्रति प्रणय की अभिव्यक्ति करता है, वहाँ शृंगार रस की अनुभूति नहीं होती। इसका क्या कारण है ? कारण स्पष्ट है : रति और उससे व्यक्त शृंगार रस की अनुभूति वहीं होगी, जहाँ स्थिति की समग्रता अनुकूल होगी। जहाँ स्थिति की समग्रता अनुकूल नहीं होगी, वहाँ रति या शृंगार की अनुभूति नहीं होती। इसी प्रकार जब राम रावण पर क्रोध करते हैं, तो रौद्र रस की अनुभूति होती है, मगर जब रावण राम पर क्रोध करता है तो रौद्र रस की अनुभूति नहीं होती। इसका कारण भी काव्य-स्थिति की समग्रता में ही मिलेगा। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि जहाँ साधारणीकरण होता है, जहाँ रस की अनुभूति होती है, वहाँ पूर्ण परिस्थिति की अनुकूलता अपेक्षित है।"

'समग्रता' की उपर्युक्त व्याख्या करने के उपरान्त डा० बाली भाव या रस की व्याख्या करते हुए उसे बुद्धि-तत्त्व से जोड़ देते हैं। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि—

"परिस्थिति की पूर्णता केवल भाव या रस नहीं है। भाव या रस तो उसका एक विशेषण है, उसका एक अंग है। इसे समझने के लिए विशेष्य या अंगी को होगा स्थिति की के बौद्धिक तत्त्व भी महत्त्वपूर्ण स्थान

रखता है। बौद्धिक तत्त्व के अन्तर्गत व्यक्ति या व्यक्तियों का आचरण, उनकी नैतिक दृष्टि तथा सामाजिक सम्बन्धों के प्रति उनका दृष्टिकोण आदि बातें आती हैं। जहाँ बौद्धिक तत्त्व व्यक्ति-निष्ठ न होकर समाज-निष्ठ होगा, वहाँ वह सामाजिकता के अनुरूप होगा, वही भाव या रस की अनुभूति होगी, वही भावात्मक साधारणीकरण होगा। दूसरे शब्दों मे कहे तो कह सकते है कि भावात्मक साधारणीकरण वहीं होता है, जहाँ बौद्धिक साधारणीकरण होता है या जहाँ बौद्धिक तत्त्व के वैशिष्ट्य का लोप हो जाता है। बौद्धिक तत्त्व के वैशिष्ट्य का वही लोप होगा जहाँ ऐसे आचरण को व्यक्त किया जायेगा जो समाज के किसी भी सदस्य के लिए ग्राह्य और विश्वसनीय होगा। ..... 'इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि भाव-तत्त्व का साधारणीकरण वही होगा—जहाँ बुद्धि-तत्त्व का साधारणीकरण होगा—जहाँ स्थिति का बुद्धि-तत्त्व व्यक्तिगत वैशिष्ट्य से मुक्त हो जायेगा। यही बौद्धिक साधारणीकरण है।''

बुद्धि-तत्त्व और भाव-तत्त्व का सन्तुलन

जीवन में दो तत्त्व प्रमुख होते हैं—भाव-तत्त्व और बुद्धि-तत्त्व। इन्हे ही 'हृदय और मस्तिष्क, राग या तर्क या भाव और बुद्धि कहते है। मनुष्य के सारे कार्य इन्ही दोनों तत्त्वों से परिचालित रहते है। इसलिए जीवन में इनकी स्थिति संयुक्त रूप मे रहती है। स्थिति की समग्रता का निर्माण भी ये दोनों तत्त्व मिलकर ही करते है। और साधारणीकरण स्थिति की समग्रता का ही होता है। डा० बाली के अनुसार—

"विश्लेषण मे तो बौद्धिक और भावात्मक साधारणीकरण पर अलग-अलग बात की जा सकती है, मगर व्यवहार में दोनो एकसाथ होते है। ऐसा नही होता कि पहले बौद्धिक साधारणीकरण हो और फिर व्यावहारिक। हाँ, परिस्थिति में दोनो प्रकार के साधारणीकरण की योग्यता होनी चाहिए ; तभी उसमें अधिक से अधिक व्यक्तियों की आसक्ति हो सकती है। और यह तभी सम्भव होगा जब यथार्थ अपने आप में समरस होगा, उसके सभी पक्षों का सन्तुलन होगा—विशेषकर भाव-तत्त्व और बुद्धि-तत्त्व का सन्तुलन होगा। जहाँ यह सन्तुलन खण्डित होता है, वही साधारणीकरण भी खण्डित हो जाता है।''

अपनी इस स्थापना को समझाने के लिए डा० बाली ने 'कामायनी' का उदाहरण दिया है। उनके अनुसार 'कामायनी' के आरम्भिक सर्गो में 'एक सामान्य परिस्थिति का चित्रण है और उसके यथार्थ में सन्तुलन है'। मगर 'इड़ा' सर्ग से यथार्थ पर बौद्धिकता और फिर दार्शनिकता हावी होती चली जाती है। इसलिए वहाँ 'कामायनी' के यथार्थ का सामरस्य और सन्तुलन खण्डित हो जाता है। इसलिए 'इड़ा' से लेकर अन्तिम सर्ग तक पाठक की उनके प्रति आसक्ति नहीं रह जाती। पाठक की आसक्ति केवल आरम्भिक सर्गों—आशा, श्रद्धा, चिन्ता, लज्जा आदि—तक ही रहती है। डा० बाली के अनुसार इसका कारण यह है कि—

''पहले के सर्गो का यथार्थ सन्तुलित और समरस है इसीलिए बौद्धिक और

भावात्मक साधारणीकरण हो जाता है। मगर बाद के सर्गों में मत-विशेष का प्रदर्शन है। सामाजिक उसे पढ़ता है, समझता है, उस पर विचार करता है। लेकिन वह उसका आस्वाद नही कर सकता। क्योंकि वहाँ बौद्धिक-साधारणीकरण का अभाव है, काव्य का यथार्थ एक दर्शन-विशेष का यथार्थ बन जाता है, उसके वैशिष्ट्य का लोप नही होता। इसलिए स्पष्ट है कि जहाँ बौद्धिक-साधारणीकरण की क्षमता नही होगी वहाँ भावात्मक-साधारणीकरण भी नहीं होगा।''

सामाजिकता की प्रधानता

परन्तु डा० बाली ने बुद्धि-तत्त्व के साथ एक शर्त रखी है। वह शर्त यह है कि बुद्धि-तत्त्व का सामाजिकता के साथ निकट का गहरा सम्बन्ध होना आवश्यक है। हम समझते है कि इसके बिना बौद्धिक-साधारणीकरण भावात्मक-साधारणीकरण की पृष्ठ-भूमि-मात्र बनकर रह जायेगा। इन दोनों का परस्पर सन्तुलित सहयोग नही हो सकेगा। डा० बाली के अनुसार सामाजिकता से प्रतिबद्धता कवि और पाठक, दोनो का सामान्य गुण है। इसी प्रतिबद्धता के स्तर पर कवि और पाठक मे तादात्म्य की स्थिति सम्भव होती है। इसलिए—

"साहित्य में बुद्धि-तत्त्व जितना अधिक व्यापक सामाजिकता के निकट होगा, उतनी ही उसमें साधारणीकरण की योग्यता आती है। इसलिए यह स्पष्ट है कि साधारणीकरण का प्रश्न दरअसल कवि के व्यक्तित्व का प्रश्न बन जाता है, कवि की प्रतिबद्धता का सवाल बन जाता है। जो कवि सामाजिक यथार्थ के जितने व्यापक अंश से सम्बद्ध होगा, उसकी रचनाओं की साधारणीकरण की क्षमता उतनी ही बढ जायेगी। कला में सवाल केवल कवि की प्रतिबद्धता का ही नहीं है, बल्कि यह भी महत्त्वपूर्ण है कि कलाकार अपनी धारणा को किस रूप में व्यक्त करता है।''

उपर्युक्त विश्लेषण करने के उपरान्त डा० बाली इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि—

"........जहाँ बौद्धिक-साधारणीकरण की क्षमता नही है, वहाँ भावात्मक साधारणीकरण भी नहीं हो सकता और न ही वहाँ रस का अनुभव हो सकता है। बौद्धिक साधारणीकरण का अर्थ है—परिस्थिति के बुद्धि-तत्त्व के वैशिष्ट्य का लोप। यह वहीं होगा जहाँ परिस्थिति व्यापक सामाजिक यथार्थ से प्रतिबद्ध होगी।''

व्यक्ति-निष्ठ परिस्थिति और साधारणीकरण

प्रयोगवाद से प्रभावित नई कविता का वह अंश साधारणीकरण की परिधि मे आता है अथवा नही, जिसमे व्यक्ति-निष्ठ परिस्थितियों को ही अभिव्यक्ति मिली है? डा० बाली का कहना है कि जिस साहित्य में व्यक्ति-निष्ठ परिस्थितियों का ही चित्रण होता है, वहाँ साधारणीकरण नहीं हो सकता। फिर ऐसे साहित्य के मूल्यांकन की कसौटी क्या है? डा० बाली ने स्वयं ही इस प्रश्न को उठाया है और फिर उसका उत्तर देते हुए लिखा है

"यहाँ कसौटी है सामाजिक यथार्थ। इस प्रकार की रचनाओं का अपना विशिष्ट बुद्धि-तत्त्व है। देखना यह होगा कि इस बुद्धि-तत्त्व का व्यापक सामाजिक यथार्थ के साथ कैसा सम्बन्ध है। यदि यह स्थिति अपनी बौद्धिकता में विलक्षण होने के साथ-साथ किसी ऐसे सामाजिक संकट की व्यंजना करती है जो उत्पन्न हो सकता है, तो उसका महत्त्व बढ जायेगा। और अगर व्यापक सामाजिक यथार्थ से उसका बहुत दूर का सम्बन्ध होगा, तो उसका महत्त्व कम हो जायेगा। उदाहरण के लिए कामू (एक प्रसिद्ध फ्रांसीसी उपन्यासकार) के 'आउटसाइडर' का यथार्थ फ्रांस और पाश्चात्य-सभ्यता के एक भयानक और व्यापक यथार्थ की व्यंजना करता है, इसी में उसके बुद्धि-तत्त्व का महत्त्व है। मगर अज्ञेय के उपन्यास 'नदी के द्वीप' का यथार्थ व्यापक भारतीय यथार्थ से बहुत दूर की चीज है, इसलिए उसका महत्त्व कम हो जाता है। ....जिस प्रकार रस या भावात्मक-साधारणीकरण साहित्य के उत्कर्ष का एकमात्र मूल्य नहीं है, उसी प्रकार बौद्धिक-साधारणीकरण भी साहित्य के लिए अनिवार्य नहीं है। आज का जीवन ऐसी स्थितियों से गुजर रहा है, जहाँ तरह-तरह की विसंगतियाँ पैदा होने की आशंका होती है। साहित्य में उन विसंगतियों के चित्रण पर पाबन्दी नहीं लगाई जा सकती। और इसलिए सर्वत्र बौद्धिक-साधारणीकरण की शर्त भी नहीं लगाई जा सकती।"

नई कविता और साधारणीकरण

डा० बाली के उपर्युक्त उद्धरणों में दो बातें स्पष्ट होती हैं, पहली—जिस कविता में बुद्धि-तत्त्व का सामाजिक यथार्थ के साथ जितना अधिक व्यापक सम्बन्ध होगा, उस कविता में साधारणीकरण की क्षमता उतनी ही अधिक होगी; दूसरी—जिस कविता में व्यक्ति-निष्ठ परिस्थितियों का ही केवल चित्रण होगा, उसका साधारणीकरण नहीं हो सकेगा। अर्थात साधारणीकरण के लिए सामाजिक-यथार्थ का चित्रण होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। इसलिए घोर व्यक्ति-निष्ठ परिस्थितियों का चित्रण करने वाली काव्य-रचना, सामाजिक-यथार्थ से कटी होने के कारण अपनी सामाजिक-उपयोगिता खो बैठती है, कला-सौन्दर्य की दृष्टि से भले ही वह उत्कृष्ट कोटि की हो। वह निष्प्राण सुन्दर मूर्ति के समान दर्शनीय तो होती है, परन्तु हमारी भावनाओं को उद्वेलित नहीं कर पाती। व्यक्ति-निष्ठ कविता तथा सामाजिक-यथार्थ का चित्रण करने वाली कविता में वैसा ही अन्तर होता है, जैसा कि एक सुन्दर पत्थर की मूर्ति और एक सुन्दर नारी में होता है। सुन्दर मूर्ति की उपयोगिता अपने ड्राइंग-रूम को सजाने तक ही सीमित रहती है और सुन्दर नारी हमारे हृदय में उद्वेलन उत्पन्न कर हमें कर्मण्य और गतिशील बनने की प्रेरणा प्रदान करती है।

व्यक्ति-निष्ठ कविता में प्रायः मन की कुण्ठाओं और विकृतियों का ही अधिक चित्रण किया जाता है। यह विशुद्ध कलावादी दृष्टिकोण है। परन्तु कला की सार्थकता

और उपयोगिता व्यापक समाज के कल्याण में ही निहित है। इसलिए इस दृष्टि से कलावादी रचनाओं का कोई सामाजिक महत्त्व नही रह जाता। परन्तु कलावादी कलाकार इस बात की कोई चिन्ता न कर अपने अहं को ही सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करते रहते है। डा० बाली ने इसी बात की ओर सकेत करते हुए आगे लिखा है—

"यह बात साफ है कि विकृतियों को ही प्रदर्शित करने वाली रचनाएँ प्राय व्यापक समाज से प्रतिबद्ध नही होती। इन विकृतियों के प्रदर्शन की प्रतिक्रिया क्या होती है, यह भी कोई महत्त्व की बात नहीं समझी जाती। नतीजा यह होता है कि विकृतियों और कुत्साओं की ओर उन्मुख रचनाकार अभिव्यंजना को ही रचना का एकमात्र गुण या मूल्य मानने के लिए मजबूर है। इस प्रकार अभिव्यंजनावाद (क्रोचे वाले अर्थ में नही, मगर सामान्य अर्थ में) विकृतियों और असहज स्थितियों की प्रदर्शक रचनाओं का मूल्य बन जाता है। मगर ये अभिव्यंजनाएँ भी सामाजिक जीवन को प्रभावित करती हैं और इस सचाई से इन्कार नहीं किया जा सकता। रचनाकार अभिव्यंजना को मून्य मानकर सामाजिक की प्रतिक्रिया को तो निर्धारित नहीं कर सकता। इसलिए जब रचनाकार अभिव्यंजना को ही एकमात्र गुण मानता है, तो वह एक अधूरी बात कहता है और कला के व्यक्तित्व का एकांगी विश्लेषण करता है।"

'अभिव्यंजना को ही मूल्य मानकर सम्प्रेषण का निषेध दरअमल कला की समग्रता का ही निषेध बन जाता है। और यह निषेध भी एकतरफा है—सिर्फ रचनाकार की तरफ से। पाठक इस निषेध में रचनाकार के साथ नही होता। इसीलिए सम्पूर्ण कला के विवेचन में यह सत्य बुनियादी महत्त्व का है कि कला के स्वरूप और उसके व्यापारों का निर्णायक अकेला रचनाकार नही, सामाजिक (सामाजिक-आलोचक) होता है। रचना के मूल्यों का संगत और सही अध्ययन यह सामाजिक-आलोचक ही कर सकता है।··· साहित्यकार जीवन से एक तीव्र बोध को प्राप्त करता है और सामाजिक साहित्य से उसी तीव्र बोध को ग्रहण करता है। बोध की इस तीव्रता के स्तर पर ही रचनाकार और पाठक एक हो सकते हैं, और इसी स्तर के परिप्रेक्ष्य मे ही काव्य की रचना तथा आस्वाद—अभिव्यंजना, साधारणीकरण तथा सम्प्रेषण की प्रक्रियाओं को समझा जा सकता है।"—साधारणीकरण : सम्प्रेषण और प्रतिबद्धता · डा० तारकनाथ बाली।

अतः नई कविता की तथाकथित बौद्धिकता-प्रधान अर्थात् सामाजिक-यथार्थ के प्रति निरपेक्ष व्यक्ति-निष्ठ कविताओं को रस-सिद्धान्त की कसौटी पर नही कसा जा सकता। क्योंकि इनमें बुद्धि-तत्त्व की प्रधानता रहते हुए भी उस बुद्धि-तत्त्व का सामाजिक-यथार्थ से कोई सम्बन्ध नही रहता। इसी कारण उनका साधारणीकरण होना असम्भव है। इसलिए वे रस-सिद्धान्त की परिधि से बाहर की चीजें हैं। परन्तु नई कविता में केवल व्यक्ति-निष्ठ अर्थात व्यक्तिवादी कविताएँ ही नही है। उसका

बहुत बड़ा अंश ऐसा है जिसका सामाजिक-यथार्थ से गहरा सम्बन्ध रहा है। इसलिए यह कहना असंगत है कि नई कविता का रस-सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस सन्दर्भ में जो लोग 'नई कविता' शब्द का प्रयोग करते है, वे नई कविता केवल उसे मानते है जो प्रयोगवाद का ही परवर्ती रूप है। अस्तु,

उपर्युक्त समस्या का समाधान करने के उपरान्त संक्षेप में उन तर्कों पर भी विचार कर लेना चाहिए, जो नई कविता के समर्थक रस-सिद्धान्त के विरोध मे देते रहे हैं।

द्वन्द्व और असामंजस्य की समस्या

रसवाद के विरोधियों का यह कहना है कि रस के लिए अपेक्षित सामंजस्य-वादी मनोवृत्ति और अद्वैत स्थिति आज के जीवन में नहीं रही और रस की धारणा अद्वन्द्व या अद्वैत पर आधारित है, इसलिए रस-सिद्धान्त नई कविता की गति मे बाधक है। परन्तु यदि यह बात सच होती कि आज के मानव की मनःस्थिति रस-बोध के प्रतिकूल है, तो उसकी दृष्टि में कालिदास, जयदेव, तुलसी, सूर आदि रस-सिद्ध कवि अपना सम्पूर्ण महत्त्व खो बैठे होते। इसके विपरीत वास्तविकता तो यह है कि आज भी लोग उन्हें उतना ही पसन्द करते है, जितना कि 'नई कविता' से पहले करते थे। रस-विरोधियों का यह कहना ग़लत है कि जिस रचना में भाव-द्वन्द्व की अभिव्यक्ति है, उस पर रस-सिद्धान्त लागू नहीं हो सकता। क्योंकि रस एक समाहित चित्तावस्था है और भाव-द्वन्द्वपरक रचना का प्रभाव समाहित नही हो सकता। वास्तव में भाव-द्वन्द्व भी काव्य-प्रक्रिया में अन्ततः द्वन्द्व नहीं रह जाता, एक अनुभूति बन जाता है। रस का मूल आधार शुद्ध मानवीय-अनुभूति है जो मानसिक होती है। और रस को आनन्दमयी अनुभूति माना गया है और डा० नगेन्द्र के अनुसार 'आनन्द के प्रत्येक रूप की प्रतीति आत्मविश्रान्ति अथवा आत्मा की अद्वन्द्वमयी स्थिति की प्रतीति ही होती है।' इसे आनन्दमयी माना गया है और सुख-दुखात्मक भी। आनन्दमयी अनुभूति अनेक नई कविताओं मे भरपूर मात्रा में मिलती है। इनके कवियों ने आनन्द-तत्त्व को स्वीकार किया है। डा० नगेन्द्र ने इस आक्षेप का उत्तर देते हुए लिखा है—

"....नई कविता यदि अनुभूति को आधार मानकर चलती है, तो रस से उसकी मुक्ति नहीं है। रस के पाश से वह यह कहकर भी नहीं निकल सकती कि हमारी अनुभूति शुद्ध मानव-अनुभूति है, आनन्दानुभूति नहीं है, क्योंकि प्रत्येक सच्ची अनुभूति की कलात्मक अभिव्यक्ति या प्रत्येक कलात्मक अनुभूति—तीव्र-से-तीव्र द्वन्द्व की कलात्मक अनुभूति भी—समंजित अर्थात् अद्वन्द्वमयी ही हो सकती है; द्वन्द्व प्रक्रिया मे ही हो सकता है, परिणति में नही, अन्यथा 'सच्चाई' और 'ईमानदारी' या अभिव्यक्ति की की बात करना व्यर्थ होगा

अतीतोन्मुखता

रस-सिद्धान्त के विरोधियों का यह भी कहना है कि रस की दृष्टि अतीतोन्मुखी रहती है और नई कविता आधुनिक युग-बोध की अर्थात् वर्तमान की कविता है, इसलिए रसवाद से उसकी संगति नहीं बैठ पाती। वस्तुतः आधुनिकता की चेतना और उससे सम्बन्ध रखने के साथ अतीत की चेतना और सम्बद्धता भी कवि-कर्म के लिए आवश्यक है। इलियट ने इस सम्बन्ध मे स्पष्ट कहा है कि "कवि को अपनी अतीत-चेतना को प्रवर्द्धित करना चाहिए और ऐसा उसे निरन्तर करते रहना चाहिए।" वस्तुतः अतीतोन्मुखता प्रबन्ध-काव्य से ही अधिक सम्बद्ध होती है, मुक्तक से इतनी नहीं। समर्थ कवि अतीत की कथा को अपने वर्तमान में ही अनुभूत कर प्रस्तुत करते आय हैं। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न युगों में एक ही अतीत कथा को लेकर लिखे जाने वाले प्रबन्ध-काव्यों में हमें पर्याप्त भिन्नता मिलती है। डा० नगेन्द्र ने राम-कथा को लेकर भिन्न-भिन्न युगों में रचे गए काव्यों का उदाहरण देते हुए लिखा है—

"वाल्मीकि ने रामकथा की 'अपने वर्तमान' में ही सामयिक अनुभूति की थी, तुलसी ने मध्ययुग में और माइकेल मधुसूदन ने आधुनिक युग में—प्रत्येक ने अतीत की सामयिक अनुभूति ही की थी, तभी तो तीनों के काव्य की आधार-चेतना भिन्न है, तीनों ही रसात्मक काव्य हैं, परन्तु प्रत्येक कवि की अपनी सामयिक अनुभूति के अनुसार तीनों के आधारभूत रसों में परिवर्तन हो गया है। द्विवेदी-युग के संस्कारी कवि ने महाभारत की अतीत कथा में अपनी वर्तमान अनुभूति के अनुसार अधर्म के विरुद्ध धर्म की विजय की प्रतीति की और नए कवि को महाभारत का युग 'अन्धा' प्रतीत हुआ। यह तो हुई कवि की दृष्टि की बात—सहृदय की दृष्टि से भी रस तत्काल से विच्छिन्न नहीं हो सकता, उसे शास्त्र में 'सद्य:परनिर्वृत्ति' ही माना गया है।"

कहने का तात्पर्य यह है कि समर्थ कवि अतीत की कथा को वर्तमान मे ही अनुभूत कर काव्य मे परिणत कर देता है और इस प्रक्रिया में अनुभूति का अतीत कथा के साथ तात्कालिक तादात्म्यमय संपर्क का जो क्षण आता है, वही उसे मौलिक बना देता है।

आत्म-विलयन की समस्या

रस-विरोधियों का कहना है कि रसानुभूति में केवल व्यक्तिगत भावना का ही आस्वादन सम्भव है; किन्तु नई कविता का सम्वेद्य अत्यन्त वैयक्तिक अनुभूति है, जिसे रसानुभूति के समकक्ष 'सह-अनुभूति' कहा जा सकता है। रसानुभूति को आत्म-विलयन की दशा कहा गया है। अर्थात् उस दशा मे भावक के व्यक्ति और विवेक का परिहार हो जाता है, किन्तु सह-अनुभूति का आस्वादन व्यक्ति-चेतना के साथ ही सम्भव है। डा० नगेन्द्र ने इसका उत्तर देते हुए लिखा है—

"यह ठीक है कि रसानुभूति की स्थिति में आत्म-विलयन आवश्यक माना गया है परन्तु इस विषय में भी दो तथ्य ज्ञातव्य है—एक तो आत्म विलयन रस

की केवल परिपाक-अवस्था का ही लक्षण है, प्रत्येक अवस्था का नहीं, और दूसरे, आत्म-विलयन केवल रस-दशा का ही नहीं, तादात्म्य एवं आनन्द की प्रत्येक दशा का लक्षण है। सह-अनुभूति मे भी तीव्रता आते ही विवेक और व्यक्ति-चेतना का लोप हो जाता है; जहाँ नहीं हो पाता वहाँ अनुभूति की क्षीणता बाधक होती है पर रसचक्र मे उसके लिए भी स्थान है। इसलिए रसानुभूति और सह-अनुभूति में भेद नहीं है, भेद का आभास मात्र है और सह-अनुभूति रसानुभूति से भिन्न नहीं, वरन् प्रायः उसकी पूर्वदशा ही होती है। पहले पाठक कवि के साथ सह-अनुभूति ही करता है: फिर चूँकि कवि की अनुभूति प्राय- पाठक की अनुभूति से प्रबलतर होती है, अतः पाठक की अनुभूति का उसमें विलय हो जाता है।"

निष्कर्ष

नई कविता के सन्दर्भ मे रस-सिद्धान्त का यह सम्पूर्ण विश्लेषण यह स्पष्ट कर देता है कि रस-सिद्धान्त एक ऐसा व्यापक कला-सिद्धान्त है, जिसे आधार बना प्रत्येक कलाकृति की समीक्षा और मूल्यांकन सम्भव है। विशेष रूप से, कविता के सम्बन्ध मे तो इसकी उपेक्षा की ही नही जा सकती। प्रगतिवादी तथा प्रयोगवादी आलोचको ने रसवाद के प्राचीन शास्त्रीय रूप को लेकर ही उसकी आलोचना की है। उसके उसी रूप को देखकर ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने, नए युग के नए परिवेश के अनुकूल रस की नई वैज्ञानिक व्याख्या कर उसके स्वरूप को अधिक व्यापक और उदात्त बना दिया था। आज की परिस्थिति शुक्ल-युग से बदल गई है। इसलिए रस-सिद्धान्त को हमे और अधिक व्यापक तथा लचीला बनाना होगा। किसी भी रस की अनुभूति आनन्ददायी और असाधारण होती है, परन्तु इसी कारण उसे आध्यात्मिकता से नही जोडा जा सकता। वह अनुभूति विशुद्ध लौकिक होती है। सात्त्विक आनन्द की कामना प्रत्येक व्यक्ति में होती है और कला अपने उदात्त रूप के कारण इसी आनन्द की अनुभूति कराती है। कविता का लक्ष्य भी व्यक्ति की चेतना को उद्‌बुद्ध कर यही आनन्द प्रदान करता है। इस आनन्द मे उत्तेजना नही होती। इसके विपरीत शान्ति उत्पन्न करने वाली आह्लादक अनुभूति होती है।

जो कविता केवल चेतना को उकसाने तक ही सीमित रहती है, उसे श्रेष्ठ कविता नही माना जा सकता। डा० रामगोपाल सिंह चौहान ने इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"कला से प्राप्त यह आनन्द चेतना की तिरोभाव या निर्वितर्क स्थिति नही है। जिस प्रकार किसी फल के रस का स्वाद आनन्द देने वाला है और उसका गुण स्वास्थ्य-वर्धक है, उसी प्रकार कला की रसानुभूति आनन्ददायक होने के साथ-साथ चित्त को स्वस्थ वृत्ति देने वाली भी होती है। चित्त का उदात्तीकरण, चित्त में प्रेम, दया, त्याग, करुणा, न्याय आदि के जीवन-मूल्यों की अनुभूति और चेतना, जीवन की विषमताओं को दूर करने की संकल्पशील जागरूकता आदि उसके गुण है। अतः कलाकृति से

प्राप्त आनन्द चेतना का तिरोभाव नहीं, बल्कि चेतना का उद्बोधन है, उन्मेष है। वहाँ आनन्द जीवन और जगत से विरक्त बनाने वाला नहीं है, बल्कि जीवन के प्रति और भी आसक्त और आस्थावान बनाने वाला है।"

—'आधुनिक हिन्दी-साहित्य'

इस प्रकार काव्यास्वादन से उत्पन्न रसानुभूति को श्रेष्ठ काव्य की कसौटी का आधार माना जाना चाहिए। और यह रसानुभूति तभी होती है जब उसका आधार सामाजिक यथार्थ होता है। वस्तुतः रस का सम्बन्ध कलाकृति की सम्प्रेपणीयता से होता है। डा० चौहान के अनुसार—"जिस प्रकार स्थूल फल की अपेक्षा उसका रस अधिक शक्तिवर्धक होता है, वह शरीर के रक्त में घुल-मिल जाता है, उसी प्रकार विविध प्रकार के भावों के संयोग से निष्पन्न भाव-रस भावक के अनुभूत्यात्मक आस्वाद का विषय बनकर उसके आनन्द का कारण बनता है और साथ ही उसकी चित्तवृत्ति के परिष्कार और पुनर्संस्कार का कारण भी।"

वैयक्तिक कुण्ठाओं, विकृतियों, अनास्था-हताशा को ही अभिव्यक्ति प्रदान करने वाले साहित्य में रसानुभूति उत्पन्न करने की यह क्षमता नहीं होती। क्योंकि ऐसी अभिव्यक्ति विशुद्ध वैयक्तिक होती है, और वह भी प्रायः नकली या उधार ली हुई। इसी कारण पाठक उससे तादात्म्य नहीं कर पाता, भले ही उसके कला-सौन्दर्य से चमत्कृत हो उठे। पाठक को चमत्कृत कर देना मात्र काव्य का निकृष्ट कोटि का गुण माना गया है। प्रयोगवाद इसी कला का सहारा ले, व्यक्ति-स्वातंत्र्य का नारा लगाता हुआ साहित्य के क्षेत्र में आया था। इसलिए प्रयोगवाद से प्रभावित नई कविता का अंश, सम्प्रेषण-शक्ति के अभाव के कारण रसानुभूति उत्पन्न करने में अक्षम रहा है। इसका मूल कारण यह है कि वह सामाजिक-यथार्थ से पूरी तरह कटा हुआ है। अपनी इस कमजोरी पर ही पर्दा डालने के लिए प्रयोगवादियों ने रसवाद का विरोध किया था। इसलिए नई कविता के उसी अंश पर रस-सिद्धान्त लागू नहीं हो सकता, जो विशुद्ध वैयक्तिक, चमत्कारवादी तथा एक वर्ग-विशेष (तथाकथित प्रवुद्ध वर्ग) के ही लिए लिखा जाता रहा है। नई कविता का बहुलांश रस-सिद्धान्त की कसौटी पर जाँचा-परखा जा सकता है। साथ ही यह बात भी ध्यान रखने की है कि केवल उत्कृष्ट कोटि की कविता ही भावक को रसानुभूति कराने में समर्थ होती है, न कि सभी कविताएँ।

४

नई कहानी

- भूमिका
- नई कहानी, आर्थिक समस्या, नई कहानी के दावे, विचित्र दावे
- नई कहानी और परम्परा-भंग की समस्या
- संत्रास और तनाव, हताशा की प्रचारक कहानियाँ
- नई कहानी के प्रधान रूप
- कथ्य की टूटती हुई सीमाएँ, विभिन्न समस्याओं का अंकन
- नए-पुराने का संघर्ष, जीवन के अन्य पक्षों का चित्रण
- विश्लेषण, शिल्प-विधान, कहानी की नवीनतम उपलब्धियाँ
- आम आदमी की कहानी

भूमिका

युग बदलता रहता है और उसके साथ जीवन भी। साहित्य भी नए युग की नई परिस्थितियों का प्रभाव ग्रहण कर उसके साथ-साथ परिवर्तित होता चलता है। इस परिवर्तन में साहित्य के नए-नए रूप उभरते और विकसित होते रहते हैं। परिवर्तन का यह क्रम अनादि काल से चलता चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहता है। इस परिवर्तन-क्रम में भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों प्रक्रिया की डोर से परस्पर जुड़े रहते है। इसे ही परम्परा का विकास कहा जाता है। इस विकास में आन्तरिक और बाह्य, दोनो प्रकार के कारण और प्रभाव समाहित रहते हैं। जैसे, बीसवीं सदी के आरम्भ में भारतीय जन-जीवन में होने वाले परिवर्तन और विदेशी कहानी-साहित्य के प्रभाव ने 'कहानी' की नई विधा को जन्म दिया था। इसी कारण आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने इसे 'नई कहानी' की संज्ञा प्रदान की थी। क्योंकि वह भारत की प्राचीन कथा-परम्परा से सर्वथा भिन्न एक नए रूप वाली थी।

वाजपेयीजी ने उसे 'नई कहानी' इसीलिए कहा था कि हिन्दी मे उससे पहले ऐसी कहानियाँ कभी नहीं लिखी गई थी। वह कहानी बदलते युगों और उनके प्रभावो के साथ रूप और शैली के नए-नए रूपो को ग्रहण करती विकसित होती रही। प्रेमचन्द तक आते-आते उसका रूप काफी प्रौढ और पुष्ट हो चुका था। परन्तु उससे पहले ही भारतीय-वातावरण में नए परिवर्तन के चिह्न और संकेत दिखाई देने लगे थे। यूरोप में युद्ध की तैयारियाँ हो रही थी और भारत में स्वाधीनता की लड़ाई नए उत्साह और नवीन वैचारिक स्तर पर लड़ी जा रही थी। इसलिए कहानी में भी परिवर्तन के नए चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे थे। प्रेमचन्द की परवर्ती कहानियो—'कफन', 'पूस की रात'—में इस परिवर्तन के दो रूप स्पष्ट रूप से उभर आए थे। उन्होने 'कफन' में यथार्थ सामाजिक-स्थिति और भयानक विषमता का चित्रण करते हुए लिखा था—"कैसा बुरा रिवाज है कि जीते-जी तन ढाँकने को चिथड़े भी न मिलें, पर उसे मरने पर कफन चाहिए। कफन लाश के साथ जल ही तो जाता है। और क्या रखा रहता है? यदि यही पाँच रुपए पहले मिले होते तो कुछ दवा-दारू कर लेते।"

यह यथार्थ के वैषम्य की कैसी गहरी अनुभूति है। देश को आजादी मिल जाने के बाद भी यह प्रेमचन्दकालीन यथार्थ आज तक भी वैसा ही बना हुआ है।

प्रेमचन्द द्वारा आरम्भ की गई दूसरी प्रवृत्ति मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण की थी। उन्होने लिखा था—"गल्प का आधार अब घटना नहीं, मनोविज्ञान की अनुभूति है। वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण और जीवन के यथार्थ, स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमे कल्पना की मात्रा कम, अनुभूतियो की मात्रा अधिक रहती है। बल्कि अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरंजित हो कहानी बन जाती है। मगर यह समझना भूल होगी कि कहानी जीवन का यथार्थ चित्र है। यथार्थ जीवन का चित्र मनुष्य स्वयं हो सकता है, परन्तु कहानी के पात्रो के सुख-दुख से हम जितना प्रभावित होते है, उतने यथार्थ जीवन से नही होते, जब तक वह निजत्व की परिधि में न आ जाय। अगर हम यथार्थ को हूबहू खीचकर रख दें, तो उसमें कला कहाँ है? कला केवल यथार्थ की नकल का नाम नही है। कला दीखती तो यथार्थ है, पर यथार्थ होती नही। उसकी खूबी यही है कि वह यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ मालूम हो।"

—'मानसरोवर' : भूमिका

प्रेमचन्द का उपर्युक्त कथन हिन्दी-कहानी के उन दोनो रूपों को स्पष्ट कर देता है, जिन्हें आधार बना हिन्दी-कहानी आज तक विकसित होती चली आ रही है। वे दो रूप हैं—कला-समन्वित यथार्थ का चित्रण तथा मनोविज्ञान। यही दोनों रूप व्यापक जीवन को अपने भीतर समेटते हुए भिन्न-भिन्न दिशाओ में विकसित होते आए हे। यह नई सामाजिक-चेतना की देन थी। आगे चलकर सामाजिक-यथार्थ का बोध

अधिकाधिक तीव्र होता चला गया। हिन्दी के नए कहानीकारों ने समाज की जटिल परिस्थिति का अंकन करना आरम्भ कर दिया। और यह किया अन्तर्भेदी समझ और विश्लेषण द्वारा।

नई कहानी

हिन्दी की तथाकथित 'नई कहानी' प्रेमचन्द की इसी कहानी-शृंखला की एक नई और अधिक मजबूत कड़ी थी, जिसका आरम्भ सन् १९५० के आसपास हुआ माना जाता है। आजादी के बाद शिक्षित नवयुवा-वर्ग का जब कोई भी सपना पूरा नहीं हुआ, तो वह क्षोभ और आक्रोश से भर उठा। उसका मोह भंग हो गया, यथार्थ ने उसकी आँखें खोल दीं। मोह-भंग की इस विषम स्थिति ने ही हिन्दी-कहानी के उस नए रूप को जन्म दिया था, जो एक ओर तो प्रेमचन्दी-यथार्थ की परम्परा से जुड़ी हुई थी और दूसरी ओर नवीनता का आभास भी दे रही थी। कुछ समय तक ये नए ढंग की कहानियाँ मात्र कहानियाँ ही कहलाती रहीं। परन्तु जब प्रयोगवादी-कवियों ने अपनी कविताओं को 'नई कविता' का नया नाम देकर उनकी व्याख्या और प्रचार करना आरम्भ कर दिया, तो उनकी समर्थक और विरोधी चर्चा अधिक मात्रा में होने लगी। यह देख हिन्दी के कुछ युवा कहानीकारों ने अपने कहानी-साहित्य को 'नई कहानी' संज्ञा प्रदान कर उसके ढोल पीटने आरम्भ कर दिए। नए नामकरण की यह दुर्घटना सन् १९५७-५८ के आसपास घटी थी।

हमने इसे 'दुर्घटना' इसलिए कहा है कि यह नया नामकरण करने वाले, इसके उपरान्त अपनी कहानी-कला की नई व्याख्या और उसका प्रचार करने में जुट गए। इसलिए उनकी नव-सृजनात्मक अधिकांश शक्ति इसी काम में लगी रहने लगी; वे और अधिक सुन्दर तथा सशक्त कहानियाँ बहुत कम संख्या में ही लिख सके और अब तो कहानीकार के रूप में लगभग समाप्त ही हो चुके हैं। 'नई' नाम की यह छूत की बीमारी 'नई कविता' वालों के समान उन्हें भी ले डूबी। इसके विपरीत, नए नाम के मोह से मुक्त नए कहानीकार बराबर एक-से-एक सुन्दर कहानियाँ लिखते रहे। इस युग में उन लोगों ने भी बहुत सशक्त कहानियाँ लिखीं जो न तो शिल्प के नए-नए प्रयोग करने के मोह में फँसे थे और न किसी राजनीतिक विचारधारा की सीमाओं में बँधे थे। आरम्भ में नई कहानी के नए पुरोधाओं ने अत्यन्त मर्मस्पर्शी यथार्थ पर आधारित सुन्दर कहानियाँ लिखी थीं, क्योंकि उस समय वे विषम संघर्ष की स्थिति में होकर गुज़र रहे थे, स्वयं संघर्ष कर रहे थे। इसी कारण उनकी कहानियों में स्वानुभूति की ईमानदारी और गहराई मिली थी।

आर्थिक समस्या

द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान भारत में एक नया वर्ग पैदा हुआ था, जो सरकारी युद्ध-प्रयत्नों में सहायता कर, युद्ध-सामग्री बनाने के ठेके ले रातोंरात धनी बन गया था। इस नव-धनिक वर्ग से नए पैसे की गर्मी झिल नहीं रही थी, इसलिए वह उस पैसे को ऐयाशी और भोंडे तथा विकृत मनोरंजनों के साधनों पर फूँक रहा

था। प्रकाशन का व्यवसाय करने वाले कुछ चतुर लोगों ने इस वर्ग के मनोरंजन के लिए ऐसे कथा-साहित्य का प्रकाशन करना आरम्भ कर दिया जिसमें सस्ते सेक्स, बलात्कार, हत्या, जालसाजी आदि का रोचक वर्णन किया जाता था। (द्रष्टव्य है कि आज भी यह प्रवृत्ति बढ़ी ही अधिक है। इन्हीं विषयों से सम्बन्धित कहानियाँ प्रकाशित करने वाली पत्रिकाओं की ही आज सबसे अधिक बिक्री होती है।) पाठकों की माँग को देख कुछ अच्छे प्रकाशकों ने कहानी की मासिक-पत्रिकाएँ निकालनी आरम्भ कर दी। 'कहानी', 'नई कहानी', 'सारिका' आदि ऐसी ही पत्रिकाएँ थीं। हिन्दी के कुछ नए कहानीकारों ने, आर्थिक अभाव और दबाव के कारण अपनी कहानियों का पारिश्रमिक बढ़ा दिया। उन्हें अच्छे पैसे मिलने लगे। कुछ नए कहानीकार उस समय केवल मसि-जीवी थे, इसलिए कहानी के बाजार तथा उसकी प्रतिद्वन्द्विता में ठहरे रहने के लिए इन लोगों ने माँग के अनुसार कहानियाँ लिखना आरम्भ कर दिया।

'मार्केट' मे उसी की माँग ज्यादा होती है, उसे ही अधिक पैसा मिलता है, जिसकी 'मार्केट' में अधिक माँग होती है। अर्थशास्त्र के इसी सिद्धान्त से चालित होकर कुछ नए कहानीकारों ने अपना-अपना विज्ञापन करना आरम्भ कर दिया। इसके लिए इन्होंने अपना एक गुट बनाया और फिर योजना-बद्ध तरीके से प्रचार करने मे जुट गए। इन्हीं लोगों ने 'नई कहानी' के आन्दोलन को उठाया था। इन्होंने एक-दूसरे के सम्बन्ध में प्रशसात्मक लेख लिखने आरम्भ कर इस कहावत को चरितार्थ किया कि—'मैं कहूँ तेरी, तू कह मेरी'। परन्तु जब इस हथकण्डे से भी अधिक काम बनता नही दीखा, तो छद्म नाम से स्वयं अपने ऊपर ही लेख लिखे। इससे 'मार्केट' मे इनकी माँग और दर तो बढ़ी, परन्तु हिन्दी-कहानी का बहुत नुक्सान हुआ। पहला नुक्सान तो यह हुआ कि प्रतिभा-सम्पन्न होते हुए भी इनकी सृजनात्मक-प्रतिभा कुण्ठित हो गई। दूसरी हानि यह हुई कि 'नई कहानी' को कुछ आलोचकों की निर्मम आलोचना का शिकार होना पड़ा। इससे नई कहानी के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ फैल गईं और उसका विरोध होने लगा। उसका विरोध करने वाले नए कहानी-आन्दोलन उठ खडे हुए। इस सबसे लाभ केवल उन ढोल पीटने वाले कहानीकारों को ही हुआ। कुछ प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्थाओं में अच्छी नौकरियाँ पा गए और कुछ इधर-उधर से पूँजी इकट्ठी कर अपना प्रकाशन खोलकर बैठ गए। अस्तु,

'नई कहानी' के दावे

नई कहानी के इन दावेदारों ने यह प्रचार करना आरम्भ कर दिया कि हिन्दी की अब तक की (पाँचवें दशक तक की) कहानी रूढ़िबद्ध, अगतिशील और अविकसित थी। और इन्होंने ही हिन्दी में सबसे पहली ऐसी कहानियाँ लिखी थीं जो हिन्दी की पुरानी कहानी-परम्परा से एकदम भिन्न, विकसित और नितान्त मौलिक हैं। अत इनके कहानी-साहित्य को एक नितान्त मौलिक और विशिष्ट देन के रूप मे स्वीकार किया जाना चाहिए। इन लोगों ने नई कहानी की विशिष्ट उपलब्धियों और मौलिक देन (उनकी ही नजर में को इस प्रकार प्रस्तुत किया

कि नई कहानी ने किस्सागोई की पुरानी परम्परा को तोड़ कथा के महत्त्व को कम किया है; कि अब साधारण मनुष्य उसके कृतित्व का पात्र बन गया है, विशिष्ट मनुष्य नहीं; कि उसने मानव मन की गहराइयों में प्रवेश कर, मनोविश्लेषण द्वारा मनुष्य के सूक्ष्म तन्तुओं का उद्घाटन किया है; कि उसके रचनाकारों ने 'क्राइसिस' को झेला है; कि उसने नए जीवन-मूल्यों की स्थापना की है; कि उसने भाषा को नए सन्दर्भो के अनुरूप नया रूप प्रदान किया है; कि उसने नए प्रतीकों और नए शिल्प के नानामुखी प्रयोग किए हैं, आदि, आदि।

इसमें सन्देह नहीं कि इन नए कहानीकारों ने उस संक्रान्ति काल में नवीन साहित्यिक मूल्यों के विकास का प्रयत्न बहुत ईमानदारी से किया। इन्होंने 'यथार्थ भाव-भूमि, चरित्रांकन और उस नए तेजी से बदलते जीवन की यथार्थ हलचल को छोडकर अपेक्षाकृत ठहरे हुए, सर्वमान वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन-खण्ड को अपनी कहानियों में अभिव्यक्ति दी।' प्रसिद्ध कहानीकार मार्कण्डेय ने 'नई कहानी' की व्याख्या करते हुए लिखा—

"नई कहानी से हमारा मतलब है उन कहानियों से, जो सच्चे अर्थो मे कलात्मक निर्माण हैं, जो जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण और उपयोगी होने के साथ ही, उसके किसी-न-किसी नए पहलू पर आधारित हैं, या जीवन के नए सत्यों को एकदम नई दृष्टि से दिखाने मे समर्थ है।.........नवीनता इसमें नहीं है कि किसी अछूते भू-भाग के अजीब से प्राणियों का वर्णन है, बल्कि इसमे है कि साधारण मानवीय-जीवन में वह कौन-सा विशेष नयापन है जो सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ पैदा हो गया है, या अन्य किसी परिवर्तन के भी जीवन का कौन-सा ऐसा पहलू है, जो साहित्य मे अब तक अछूता है।"

—'हंसा जाई अकेला' (भूमिका)

उपर्युक्त वक्तव्य मे मार्कण्डेय ने कोई खास बात नहीं कही है। प्रत्येक नए युग के कलाकार अपने युग की परिस्थितियों और तज्जन्य भावनाओ-प्रतिक्रियाओ आदि को अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति देते आए है। हाँ, उन्होंने जीवन के अछूते पहलुओं को छूने की नई बात अवश्य कही है। हमारे प्रयोगवादी-कवि भी नई भूमि तोड़ने की बात कहते थे। नई भूमि का तोड़ना या जीवन के अछूते पहलुओं को छूना तभी स्वीकार्य हो सकता है जब वह हमारे सामाजिक-यथार्थ से जुड़ा हुआ हो। इसके अभाव में यह चमत्कार-मात्र बनकर रह जाता है। सम्भवत: यहाँ मार्कण्डेय का संकेत नए मनोविश्लेषण-शास्त्र पर आधारित मानव-मन के रहस्यों के अंकन से है। परन्तु इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, जैनेन्द्र आदि इस क्षेत्र में पहले ही काफी करिश्मा दिखा चुके थे।

विचित्र दावे

उपर्युक्त दावों के साथ ही कुछ नए कहानीकारों ने 'नई कविता' का अवमूल्यन

और 'नई कहानी' की प्रशंसा करते हुए बड़ी विचित्र-सी बातें कहीं। जैसे—'नई कहानी का विकास, नई कविता की पार्श्ववर्ती शाखा के रूप मे नही, उससे अलग और उससे आगे के साहित्यिक आन्दोलन के रूप में हुआ।' —(मोहन राकेश) 'कविता अनुभव का एक स्तर है, कहानी दूसरा।' —(श्रीकान्त वर्मा) 'नई कविता परम्परा के प्रति विद्रोह है और नई कहानी परम्परा का पुनर्प्रस्तुतीकरण।' 'नई कविता' से भिन्न 'नई कहानी' का सर्वथा पृथक् और मौलिक अस्तित्व सिद्ध करने वाले ये उद्धरण नई कहानीकारों की उस बेचैनी और भय को प्रकट करते हैं, जो 'नई कविता' पर होने वाले आक्रमणो के कारण उन्हे सहमा गए थे। इसीलिए उन्होंने स्वयं को 'नई कविता' की प्रवृत्तियो से भिन्न और क्रान्तिकारी सिद्ध करने का प्रयत्न किया था। विचित्र बात यह है कि एक ओर तो ये लोग स्वयं को परम्परा से पूर्णत: असम्बद्ध घोषित कर रहे थे और साथ ही परम्परा के 'पुनर्प्रस्तुतीकरण' का दावा भी करते थे।

डा० धनजय वर्मा ने उपर्युक्त दावो का खण्डन करते हुए कई प्रश्न उठाए हैं—

"विधा का चुनाव माध्यम का चुनाव है और इस सन्दर्भ में विभाजन और वर्गीकरण अकलात्मक है। प्रश्न है कि क्या केवल कहानी में ही अनुभूतियों को जीवन मे से पाना होता है? क्या कविता की अनुभूतियाँ कहीं बाहर से आती है? कविता मे जीवन की अनुभूति उतनी प्रत्यक्ष नहीं होती जितनी कहानियो मे होती है। कविता और कहानी की भिन्नता इसी धरातल पर हो सकती है। अन्यथा सम्वेदना, अनुभूति या प्रकृति के स्तर पर विधाओं का विभाजन नहीं होता। मूलत साहित्य ही नही, कला की प्रकृति भी एक है। 'आज की कविता के एक वर्ग में काव्य-अनुभूतियों का उत्स, प्रमाण और सन्दर्भ स्वयं कवि होता है।' (यादव) यह बात कविता के किसी खास वर्ग या, कविता ही नहीं, कहानी के साथ भी सच है। हर कला माध्यम की तरह कहानियों में भी अनुभूतियों का उत्स, प्रमाण और सन्दर्भ रचनाकार ही होता है, अन्यथा अनुभव की निजता, प्रामाणिकता और वास्तविकता का निकष क्या है? जीवन, परिवेश, समाज और यथार्थ, इनसे रचनाकार व्यक्तिश: ही जुड़ा है।"

—'कहानी, नई कहानी और अकहानी' शीर्षक निबन्ध

इसी सन्दर्भ में राजेन्द्र यादव ने एक दावा और किया था कि—'जो मन-स्थिति सम्पूर्ण कविता के लिए पर्याप्त है, वह अधिक-से-अधिक कहानी के पूरे फ्रेम मे एक स्थिति भर हो सकती है या विवरण का एक 'डीटेल'।' इसीलिए कहानी कविता से भिन्न और व्यापक आयाम वाली है। आखिर अपनी और अपनी विधा की श्रेष्ठता सिद्ध करने का यह दम्भरा मोह क्यों है? यादव कहानी को साहित्य-मात्र की केन्द्रीय विधा भी मानते हैं और अपने भोंडे और लचर तर्कों द्वारा इसे सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। इस सबके मूल मे कही गहरी हीनता-ग्रन्थि प्रतीत होती है। कहानी केन्द्रीय विधा है और हमने कहानी को एक सर्वथा नया रूप दिया है इसलिए सबको हमारी श्रेष्ठता

स्वीकार कर हमारे सम्मुख नतमस्तक हो हमारी प्रशंसा के गीत गाने चाहिए। यह कैसा बचकाना दम्भ है! डा० धनंजय वर्मा ने यादव के उपर्युक्त कथन की निस्सारता सिद्ध करते हुए यथार्थ ही लिखा है—

"...इसी आधार पर कविता और कहानी की मूल प्रकृति में अन्तर किया जाता है, तो मुझे लगता है, यह अन्तर न तो मौलिक है, न प्राकृतिक रूप, फार्म या अभिव्यक्ति का माध्यम; 'विल टू फार्म' की उपज है, जो मशीनी नहीं, 'इन्ट्यूटिव' होती है, सायास नहीं, अनायास होती है और वहाँ अनुभूति का नहीं, अभिव्यक्ति का ही अन्तर होता है। कोई एक मनःस्थिति कहानी के लिए भी पर्याप्त हो सकती है, और होती है, जैसे—यादव की कहानी 'किनारे से किनारे तक'। ....कहानी अभिव्यक्ति का एक प्रकार है, तो कविता दूसरा। विधाओं के रूप में इनमें से किसी को बड़ा-छोटा साबित नहीं किया जा सकता। ....चाहे वह नई कहानी हो या नई कविता, दोनों एक ही ऐतिहासिक सन्दर्भ की उपज हैं। उनकी सम्वेदना और संचेतना में मौलिक और आधारगत अन्तर नहीं है, क्योंकि वे इतिहास के एक ही काल-खण्ड और एक जीवन-समाज-यथार्थ के परिप्रेक्ष्य से सम्बद्ध-सम्पृक्त-प्रतिबद्ध है।" अस्तु,

हमें 'नई कहानी' के दावेदारों का उपर्युक्त उल्लेख इतने विस्तार के साथ इसलिए करना पड़ा कि इन लोगों ने अनर्गल वक्तव्य दे-देकर अपनी श्रेष्ठता को स्वयं सिद्ध करना चाहा था। आपने अच्छा और यथार्थ लिखा है, तो पाठक स्वयं आपकी तारीफ करेंगे, आलोचक आपको उचित महत्त्व देंगे। स्वय ही अपनी कृति की समीक्षा करने बैठ जाना असंगत व्यापार है। उस समय हो यह रहा था कि नए कहानीकारों ने अपने-अपने गुट बना लिए थे और अपने-अपने पक्ष में तर्क जुटाने में व्यस्त थे, साथ ही स्वय को संगत सिद्ध करने के लिए दूसरों के महत्त्व को कम कर रहे थे। इसी कारण उनके संग्रहों की भूमिकाएँ आत्म-कथ्यों के आग्रह-दुराग्रह से भरी रहती थीं। आप स्वयं अपने कृतित्व के आलोचक और निर्णायक नहीं बन सकते। समीक्षक के लिए यह जरूरी है कि वह पहले पाठक बने और फिर समीक्षा करते समय निस्पृह और निस्संग हो सके। उसका धर्म पहले स्वयं समझना और फिर दूसरों को समझाना है।

नई कहानी और परम्परा-भंग की समस्या

अपनी विशिष्टता प्रदर्शित करने के लिए कुछ नए कहानीकारों ने यह कहा था कि उनकी नई कहानी का हिन्दी-कहानी की पूर्व-परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह सर्वथा मौलिक और नवीन है। यह कहते हुए इन लोगों ने अपने पूर्ववर्ती कहानीकारों—प्रेमचन्द, प्रसाद, यशपाल, अज्ञेय, जैनेन्द्र आदि के महत्त्व को नकारने का और अपने महत्त्व को बढ़ाने का प्रयत्न किया था। यह ठीक है कि विद्रोही कलाकार परम्परा के प्रति असन्तुष्ट और विद्रोही हो सकता है। परन्तु हम अपने स्वार्थ के लिए परम्परा के रूप को विकृत नहीं कर सकते और न परम्परा के प्रति

पूर्वाग्रहों से ग्रस्त हो उसकी न्यूनताओं को ही संगत सिद्ध कर सकते है। परम्परा का विरोध प्राचीन काल से होता चला आ रहा है, परन्तु यह विरोध भी उसी परम्परा की ही उपज होता है। परम्परा से पूर्णतः कटकर तो कहीं खड़ा हुआ ही नहीं जा सकता। परिवर्तन या नयापन परम्परा का ही एक और अगला चरण होता है। वह ऐतिहासिक सन्दर्भ मे उत्पन्न होता है। इसी विकास-प्रक्रिया के अनुसार हिन्दी की नई कहानी भी ऐतिहासिक सन्दर्भ की ही उपज थी। वह परम्परा से जुड़ी हुई थी, परन्तु डा० धनंजय वर्मा के अनुसार, उसका यह जुड़ना 'नैरन्तर्य के धरातल पर ही था'; वह परम्परा से पृथक थी—एप्रोच, निर्वाह और दृष्टि के अन्तर के कारण।

डा० धनंजय ने नई कहानी की इसी विशिष्टता का विश्लेषण करते हुए आगे लिखा है—

"उसने युग के अनुभूत वास्तव के सारे अन्तर्विरोध, प्रवंचना और असंगति को भोगा और अभिव्यक्त किया है। वह एक साथ ही मूल्य-भंग और मूल्य-निर्माण की कहानी है। उसकी तात्कालिक परम्परा में जिन उपलब्ध सत्यों और तथ्यों को स्वयं-सिद्ध मानकर विवरण और वर्णन से सजा दिया गया था या जिन्हें कटे-छँटे विचार-विश्लेषण और निष्कर्षवाद का जामा पहनाया गया था, उन्हें (उपलब्ध सत्यों और तथ्यों को) नई कहानी ने अधिक गहराई में जाकर, अधिक व्यापकता और विस्तार से स्वस्थ और तटस्थ दृष्टि मे देखा और उनकी प्रक्रिया दी है—ताकि उस प्रक्रिया से होते हुए पाठक भी उन तक अनुभव और अनुभूति के धरातल पर पहुँच सकें। व्यतीत 'सामाजिक जागरूकता' जहाँ एक विचार-पद्धति या प्रणाली, एक 'कण्डीशण्ड मस्तिष्क' का परिणाम थी, वहाँ अब वह एक व्यक्ति की सम्पृक्त चेतना और निरन्तर भोगते हुए 'सेल्फ' का परिणाम और प्रक्रिया है। इसलिए जहाँ पहले वह आरोपित लगती थी, वहाँ अब हमारी चेतना, सम्वेदनशीलता और अनुभूति का अविभाज्य अंग है।"

संत्रास और तनाव

यह कहा जाता है कि नई कहानी युग की विषमताओं के कारण उत्पन्न असुरक्षा की भावना, संत्रास, तनाव और घुटन को ही अधिक प्रश्रय देती रही थी। परन्तु यह गलत है। वस्तुतः उस समय 'व्यक्तिवादी आत्मीय मनःस्थितियों' वाली कहानियाँ अधिक मात्रा में लिखी गई और खूब चर्चित भी रहीं। ये कहानियाँ बहुत सुन्दर और प्रभावशाली थीं। ये नागरिक-जीवन के तनाव से मुक्त, नगर के बाहरी हिस्सों से सम्बद्ध अथवा दुनियाँ की आपाधापी से अलग रम्य पहाड़ी स्थलों पर घटित होती हैं। जैसे—'गुल की बन्नो' (धर्मवीर भारती), 'मवाली' या 'मलबे का मालिक' (मोहन राकेश), 'चीफ की दावत' (भीष्म साहनी), बादलों के घेरे' (कृष्णा सोबती), 'एक कमजोर लड़की की कहानी' (राजेन्द्र यादव) आदि। इनसे कुछ ही समय पूर्व 'गदल' (रांगेय राघव), 'हंसा जाई अकेला' (मार्कण्डेय) रसप्रिया और डिप्टी कलक्टरी जैसी सशक्त कहानियाँ आ चुकी थी इनमे रे

किसी भी कहानी में आधुनिक तनाव और सन्त्रास तथा अनास्था के दर्शन नहीं होते। इनमें सामयिक यथार्थ का प्रभाव अधिक गहरा और गाढ़ा रहा है। अपने अछूते शिल्प और उस शिल्प की सरलता, ताजगी तथा आस्था के स्वरों से स्पन्दित होने के कारण ये कहानियाँ बहुत पसन्द की गई थीं। इनमें से अधिकांश कहानीकारों ने 'नई कहानी' जैसी किसी नई विधा को जन्म देने का दावा नहीं किया था, बल्कि पूर्ण मनोयोग के साथ अनुभूति की गहराई में पैठकर ये कहानियाँ लिखी थी।

वस्तुतः संत्रास, घुटन, तनाव, अस्तित्व की चिन्ता आदि को व्यक्त करने वाली कहानियाँ सन् १६६० के आसपास ही अधिक संख्या में लिखी गई थी और इन बातों के बड़े ढोल पीटे गए थे। उस समय तक हमारे देश में ऐसी विषम स्थिति उत्पन्न नहीं हुई थी, इस कारण इन बातों के अंकन में अनुभूत सत्य की अपेक्षा ऊपरी आरोपण ही अधिक था। यूरोपीय-साहित्य में, द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त, इस विषम स्थिति के बड़े तीखे स्वर उभरे थे। व्यक्तिवादी-विचारधारा से प्रभावित हिन्दी के कुछ कहानीकार उन्ही की नकल कर अपनी कहानियों मे भी उन्ही स्वरो को गुँजाने लगे थे। परन्तु जागरूक आलोचकों द्वारा इस प्रकार के चित्रण का विरोध किए जाने पर इस प्रकार की कहानियों का लिखा जाना शीघ्र ही बन्द हो गया था। यह भी लेखन का एक नया फैशन था, जो अन्य फैशनों के ही समय क्षणजीवी रहकर ही समाप्त हो गया। दरअसल ऐसी कहानियाँ लिखने का युग तो अब आया है जब सामान्य जन का जीवन इतना त्रस्त, विषम और अनास्थापूर्ण हो उठा है कि वह अपनी अस्तित्व-रक्षा के प्रति भयंकर रूप से शकालु बन गया है। और वास्तविकता यह है कि आजकल ऐसी कहानियाँ लिखी भी जा रही हैं।

हताशा की प्रचारक कहानियाँ

ऐसी कहानियाँ हताशा उत्पन्न करने वाली होती हैं। इनमें यथार्थ का अंकन तो होता है, परन्तु वह सम्पूर्ण यथार्थ का एक पक्ष-मात्र है। इस तनाव और संत्रास के वातावरण के विरुद्ध समाज का एक बहुत बड़ा भाग जो असन्तोष व्यक्त कर रहा है, उसे अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली कहानियाँ भी हिन्दी मे लिखी जा रही है, परन्तु सामान्य पाठक तक नही पहुँच पातीं। इसका कारण यह है कि उन्हें हिन्दी के बड़े-बड़े प्रकाशन-संस्थानों द्वारा प्रकाशित पत्र-पत्रिकाएँ नहीं छापतीं। वे छोटी-छोटी स्थानीय पत्रिकाओं में प्रकाशित हो सीमित पाठकों तक ही रह जाती है। इसका कारण यह है कि पूँजीवादी प्रकाशन-संस्थान कलाकार और समाज के संघर्षवादी स्वर और रूप से डरते हैं। इसलिए उनकी आस्था ऐसे साहित्य के प्रकाशन में अधिक रहती है जो पाठकों में हताशा, त्रास और संघर्ष से पलायन की भावना भरता रहे। इन पत्र-पत्रिकाओं का स्वर और रूप कैसा होता है, इसका उद्घाटन करने वाला एक पत्र 'धर्मयुग' (दिनांक १८ मार्च, सन् १६७६) में पढ़ने को मिला। किन्हीं राजीव कुमार त्रिपाठी, एडवोकेट ने कानपुर से सम्पादक 'धर्मयुग' के नाम यह पत्र लिखा था। पत्र के कुछ अंश इस प्रकार हैं—

"वर्षों से 'धर्मयुग' देख रहा हूँ। आज 'धर्मयुग' के खाते में घाटा आ रहा है। सोचता हूँ, 'धर्मयुग' से क्या मिलता है? ठंडी-ठडी बातें, पीछे का रोना, आगे का डरना। कोई भी अक देखें, सब एक जैसे। पढ़ने के बाद रोना-सा आता है। ऐसी बातें होती है जो दिल बैठाने लगती है। बाहर संघर्ष करने में मजा आता है, बडी-बडी मुश्किलों में हौसले बुलन्द रहते है। परन्तु कैसी विडम्बना है कि आराम के क्षणो मे आपका 'धर्मयुग' ही मन को कमजोर कर देता है। 'धर्मयुग' की आँखों से देश मे अन्धकार-ही-अन्धकार दिखता है। हर चीज भटकी हुई, हर व्यक्ति भूला हुआ। क्या वास्तव में देश का आम व्यक्ति इतना निराश है? तर्क के लिए मान भी लिया जाय, तो क्या इसी तरह से मनोबल ऊँचा होगा? कामना करता हूँ कि 'धर्मयुग' निराशा का ग्रास न बने।········प्रथम लेख से अन्तिम कथा तक मे जोश, उत्साह तथा उमग रहे जिससे थकावट के क्षणो में भी पाठकों को नई ऊर्जा तथा प्रेरणा मिले।"

परन्तु भाई राजीव कुमार की कामना करने से क्या होता है। यह तो तभी सम्भव है जब 'धर्मयुग' के मालिक ऐसा चाहें। और वे क्यों चाहने लगे। क्योंकि उत्साह और ऊर्जा संघर्ष उत्पन्न करते है, और सघर्ष पूँजीपति का सबसे बड़ा दुश्मन होता है। यही कारण है कि आज देश में ऐसे ही साहित्य का प्रकाशन अधिक हो रहा है जो पस्त-हिम्मती जगाता है। अस्तु,

नई कहानी के प्रधान रूप

आजादी के बाद, कुछ समय तक स्वतंत्रता-प्राप्ति का उल्लास हिन्दी की आचलिक कहानियों में व्यक्त हुआ था; परन्तु वह कहानी की विकास-यात्रा का अस्थायी पक्ष था। शीघ्र ही स्वतंत्रता के प्रति हमारा रोमानी मोह भंग हो गया। सन् १९६२ में हुए भारत-चीन युद्ध ने तो इस मोह को पूरी तरह भग कर दिया। इसलिए मार्क्स और फ्रायड के प्रभावों से आगे बढकर कुछ कहानीकार अस्तित्ववादी-दर्शन की ओर झुके और संत्रास, अलगाव, बेगानेपन और ऊब को व्यक्त करने वाली कहानियाँ लिखते रहे। देश के नए पूँजीवादी अर्थतंत्र ने मानव को कितना आस्थाहीन, शकित, कुण्ठित, अनुत्तरदायी, असामाजिक, आत्मलीन, विवश और असहाय बना दिया है, उसके अत्यन्त मार्मिक और यथार्थ चित्र अंकित किए गए। 'राजा निरबसिया' (कमलेश्वर), 'डा० शरत, जलते प्रश्न' (देवीप्रसाद कापडिया), 'एक बुतशिकन का जन्म' (विजय चौहान), 'तारा का वशिष्ठ के नाम पत्र' (शिवप्रसाद सिंह), 'दो आस्थाएँ' (अमृतलाल नागर), 'भूखे' (मोहन राकेश), 'टेबुल' (फणीश्वरनाथ रेणु), 'काला कौआ' (शैलेश मटियानी), 'शिक्षा दानी का अन्त' (मन्मथनाथ गुप्त) आदि कहानियों के पात्र हमारे समाज के ऐसे व्यक्तियों के प्रतीक हैं जो असहाय, विवश, कुण्ठाग्रस्त, कामलोलुप, भ्रष्टाचारी और प्रपची हैं। यह समाज की एक स्थिति का पक्ष था।

इसके विपरीत कुछ कहानियों मे ऐसे पात्रो का भी चित्रण किया गया जो

वर्तमान विषम परिस्थिति से हताश न हो, नए जीवन को गढ़ने के लिए पुरानी मान्यताओं को ध्वस्त कर, नए रास्ते की खोज करते हुए नए जीवन-मूल्यों को गढ़ने का प्रयत्न कर रहे है। 'अल्ला दिया' (गोविन्दवल्लभ पन्त), 'माता' (शैलेश मटियानी), 'राहुल अपना दामन माँगे' (भिक्षु), 'मेरे बाबा' (हृदयेश), 'गदल' (रांगेय राघव), आदि नए-पुराने कहानीकारों की इन कहानियों में ऐसे ही मानव का चित्रण हुआ है जो दुर्निवार परिस्थितियों से जूझता हुआ मानवीय-प्रेम, त्याग, बलिदान, सहानुभूति आदि गुणों को सँजोए आगे बढ़ने का प्रयत्न कर रहा है। इस प्रकार उपर्युक्त दोनों प्रकार की कहानियाँ आधुनिक मानव के दोनों रूपों—कुण्ठावादी और आशावादी—को समेट कर समाज का एक समष्टि रूप प्रस्तुत कर देती हैं। इन कहानियों में कहानीकारों ने स्थिति आदि के विस्तृत विवरण में न जाकर सूक्ष्म, सांकेतिक भाव-चित्रण की नई शिल्प-पद्धति द्वारा विभिन्न चित्रों का अंकन किया है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि इनमें यथार्थ का स्वर अत्यन्त निर्मम और तीखे रूप में उभरा है। ये लोग बुरे-से-बुरे पात्र को भी हमारी सहानुभूति का अधिकारी बना देते है। ऐसे चित्रण परिस्थिति की सम्पूर्ण विषमता और उसमें छटपटाते मानव की विवशता का मार्मिक चित्र प्रस्तुत कर देते हैं। इसे आधुनिक (यहाँ नई कहानी से ही अभिप्राय है) कहानी की एक विशिष्ट उपलब्धि माना जा सकता है। इसमें चित्रित मानव का यह रूप उसका सर्वथा यथार्थ रूप है।

यहाँ हमने यह देखा कि कथ्य और शिल्प की यह नवीनता अकेले नए कहानीकारों की ही कहानियों में न उभर कर गोविन्द बल्लभ पन्त, अमृतलाल नागर जैसे पुराने कहानीकारों की कहानियों में भी दिखाई देती है। इसका अर्थ यह हुआ कि युग की नवीन परिस्थितियों की माँग और दबाव के कारण ही साहित्य के कथ्य और शिल्प में परिवर्तन होते रहते हैं।

कथ्य की टूटती हुई सीमाएँ

विषय वस्तु के क्षेत्र में नई कहानी जीवन की प्रत्येक स्थिति और समस्या को अपना कर आगे बढ़ी है। उसका प्रधान स्वर मानवतावादी, प्रेम और सद्भाव का रहा है। आजादी के समय सम्पूर्ण उत्तर भारत को भयानक साम्प्रदायिक उत्पातों ने बुरी तरह से झकझोर डाला था। प्रदेश, भाषा, रीति-रिवाज, रहन-सहन, जीवन-मूल्य आदि की सीमाएँ टूट गई थीं। विस्थापितों की, अपहृत महिलाओं की, विभिन्न प्रदेशों के निवासियों की पारस्परिक सांस्कृतिक और सामाजिक अन्तर्भुक्ति की समस्याओं ने समस्त हिन्दी-भाषी प्रदेश में एक विषम स्थिति उत्पन्न कर दी थी। हमारे कहानीकारों ने अपनी कहानियों में पूर्ण सहानुभूति और सम्वेदना के साथ उस स्थिति का चित्रण कर राष्ट्र के जीवन में प्रेम, सद्भाव, आशा, साहस और शक्ति की भावना भरने का अथक प्रयास किया था। उन्होंने साम्प्रदायिकता का विरोध कर ऐसे पात्रों

को प्रस्तुत किया जो नीलकण्ठ के समान इस भयानक विष का पान कर मानवता की रक्षा करने में आस्था रखते थे। 'हमीदा' (वृन्दावनलाल वर्मा), 'उस दिन', 'अगम, अथाह' (विष्णु प्रभाकर), 'लोटा' (गुरनामसिंह तीर), 'शरणार्थी' (अज्ञेय), 'दो बम' (प्रह्लादनारायण मित्तल), 'मलबे का आदमी' (मोहन राकेश) आदि कहानियों में साम्प्रदायिकता के ज़हर से मुक्त मानवता का उज्ज्वल पक्ष उजागर हुआ था। इन कहानियों में गहरी सम्वेदना थी।

विभिन्न समस्याओं का अंकन

देश-विभाजन से उत्पन्न विनाश का दौर जब कम हो गया तो हमारे कहानीकारों ने देश की अन्य समस्याओं की ओर ध्यान दिया। अछूतोद्धार, समाज-सुधार, भूमि-सुधार, वर्ग-वैषम्य, आर्थिक-विषमता, शिक्षा का खोखलापन, बेकारी, नवयुवकों की अनुशासनहीनता, भ्रष्टाचार, चोर-बाजारी, कुनबापरस्ती आदि को लेकर अनेक मार्मिक कहानियाँ लिखी गईं। जैसे—'शिक्षा दानी का अन्त' (मन्मथनाथ गुप्त), 'जीवन-चक्र' (कमल जोशी), 'डिप्टी कलक्टरी' (अमरकान्त), 'चीफ की दावत' (भीष्म साहनी), 'रोज की बातें' (शत्रुघ्न लाल), 'दिन' (शानी), 'चित्र फलक' (अमृतराय), 'भूखे और प्यासे' (द्विजेन्द्रनाथ मिश्र), 'भगवान हँसते हैं' (अनन्तकुमार पाषाण), 'बर्थ डे' (चन्द्रकिरण सौनरिक्सा) आदि कहानियों में राष्ट्र, समाज, व्यक्ति आदि की उपर्युक्त समस्याओं और स्थितियों का सुन्दर चित्रण हुआ है।

कुछ कहानियों में नई और पुरानी पीढ़ियों के पारस्परिक संघर्ष, संयुक्त परिवार-प्रथा के विघटन, पारिवारिक जनों के पारस्परिक सम्बन्ध और उसके बदलते नए दृष्टिकोण आदि का यथार्थपरक मार्मिक चित्रण हुआ है। साथ ही नारी की सामाजिक और पारिवारिक स्थिति, उसके मनोविज्ञान, पुरुष और नारी के सम्बन्ध आदि पर भी अनेक कहानियाँ लिखी गईं। जैसे—'नारी की बात', 'नारी की दृष्टि' (मन्नू भंडारी), 'एक और जिन्दगी' (मोहन राकेश), 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' (राजेन्द्र यादव), 'माता' (शैलेश मटियानी), 'तंग गलियों के मकान' (कमलेश्वर), 'सन्तो दीदी' (लक्ष्मीधर मालवीय) आदि। इन कहानियों में नारी-जीवन के विभिन्न रूपों का सम्वेदनशील चित्रण हुआ है।

नए पुराने का संघर्ष

संक्रान्तिकालीन इस नए युग में नए और पुराने का संघर्ष बड़े व्यापक और गहरे रूप में उभरा है। समाज और व्यक्ति के जीवन में जिस द्रुत गति से परिवर्तन हो रहे थे, उनके कारण परम्परागत जीवन-मूल्यों और समाज-व्यवस्था के प्रति असन्तोष और विद्रोह की भावना बड़े तीखेपन के साथ उठ रही थी और आज भी वही स्थिति है। नित्यप्रति बढ़ती जाती आर्थिक-विषमता और जीवन-निर्वाह की समस्या ने इस द्वन्द्व को और अधिक बढ़ा दिया था। नई पीढ़ी आज तक उस व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह कर रही है और उसके इस विद्रोह में नए जीवन-मूल्यों के रूप उभरते चले

आ रहे हैं। वर्तमान पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था इतनी सशक्त और भयानक होती जा रही है कि उसमें जीने वाले सामान्य व्यक्ति के प्राण पीड़ा, निराशा, घुटन और क्षोभ से छटपटा रहे हैं। आज अपने अस्तित्व की रक्षा करना ही व्यक्ति का एकमात्र लक्ष्य बन गया है। विवशता ने उसमें भयंकर कुण्ठाएँ और विकृतियाँ उत्पन्न कर दी हैं। निराशावादी अपनी कुण्ठाओं में घुटते और छटपटाते रहते हैं, परन्तु साहसी और आस्थावादी इन कुण्ठाओं से जूझते हुए विकास के नए मार्ग खोज रहे हैं। और उनकी यह खोज नए जीवन-मूल्यों को जन्म दे रही है। इस युग के हमारे कहानीकारों ने सामाजिक व्यक्ति के इन दोनों पक्षों का स्वानुभूत सम्वेदनशील रूप प्रस्तुत किया है। इनमें चित्रित व्यक्ति के बिखराव और टूटन में भी अन्त तक संघर्ष करते रहने की भावना व्यक्त हुई है।

इसका कारण यह है कि हमारे कहानीकार समाज के उस वर्ग के अंग हैं, जिन्होंने जीवन की इस घुटन और टूटन को गहरे रूप से सहा है। इसी कारण उनकी अधिकांश कहानियों में इसी स्थिति की स्वानुभूत स्थितियाँ चित्रित हुई हैं। इनमे व्यक्ति के सम्पूर्ण चिन्तन-मनन, संघर्ष, घुटन, कुण्ठा, निर्बलताएँ-सबलताएँ आदि सभी कुछ अत्यन्त मार्मिक रूप धारण कर व्यक्त हुई हैं। इनमें से निम्नलिखित कहानियाँ अधिक उल्लेखनीय हैं—

'आधी रात का सूरज' (राजकमल चौधरी), 'तीसरी कसम', 'टेबुल' (रेणु), 'अभी साँस चल रही है' (प्रह्लादनारायण मित्तल), 'बन्द गली का आखिरी मकान' (धर्मवीर भारती), 'मैं और मेरा विराट् पुरुष' (उदयशकर भट्ट), 'एक थी विमला' (कमलेश्वर), 'दूर आती बैलगाड़ी' (सर्वेश्वरदयाल सक्सेना), 'धुँआ और लाट' (अमृता प्रीतम), 'विश्वास और बिश्वास' (कमल जोशी), 'एक चुम्बन' (रावी), 'प्रश्नों की उँगलियाँ और फैला हुआ अन्तरिक्ष' (भगवान सिंह)।

जीवन के अन्य पक्षों का चित्रण

इस काल की कहानियों में जीवन के अन्य गौण पक्ष भी चित्रित हुए है। बालोपयोगी कहानियाँ भी पर्याप्त मात्रा में लिखी गई हैं और आज भी लिखी जा रही हैं। हिन्दी के कुछ प्रसिद्ध कहानीकारों ने भी ऐसी कहानियाँ लिखी हैं, जैसे—अमृतलाल नागर, मन्नू भंडारी, शिवानी, मनहर चौहान, कमलेश्वर, कीर्त्ति चौधरी, लाड़ली मोहन आदि। कुछ कहानियों में विभिन्न प्रदेशों की लोक-संस्कृतियों का चित्रण हो रहा है। इनमें विभिन्न अंचलों के जीवन में व्याप्त लोक-संस्कृति के प्रभावशाली रूप उभारे गए हैं। जैसे—'एक गगन सूर्या, एक आकाश चन्द्रावती', 'सुख सरोवर के हस', 'काला कौआ' (शैलेश मटियानी), 'मधुवन की मुरलिया', 'गगन महल', 'सुन्दरी' (लक्ष्मीनारायण लाल), 'घाटी की आवाज' (राधाकृष्ण कुकरेती), 'हसा जाई अकेला' (मार्कण्डेय) तथा रेणु और महरुन्निसा परवेज की अनेक कहानियों मे बिहार और मध्यप्रदेश के ग्रामीण और आदिवासी अंचलों की लोक-संस्कृतियों के बड़े सुन्दर चित्र अकित हुए हैं

विश्लेषण

समष्टि रूप से, आजादी के बाद आने वाले छठवें दशक में हिन्दी-कहानी का मूल स्वर मूल्यवादी रहा था। डा० बच्चनसिंह के शब्दों में—"....नए मूल्य वाले चरित्रों की सृष्टि की जाने लगी, जिनका महत्त्व इसलिए है कि वे किसी-न-किसी संघर्ष से सम्पृक्त है। इसे प्रेमचन्द की परम्परा का नया मोड़ माना जा सकता है। साथ ही जैनेन्द्र और अज्ञेय के प्रभाव को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु जहाँ उनमे मनोविश्लेषण और अवसाद की मुख्यता है, वहाँ छठे दशक की कहानियाँ आत्म-संघर्ष और नाटकीय तनाव के कारण उनसे अलग हो जाती हैं।

"इस काल के कहानीकारों ने एक ओर परम्परागत रोमानी मूल्यों के प्रति रोमानी दृष्टि की अभिव्यक्ति की, तो दूसरी ओर युगीन संक्रमण के अधिकाधिक दवाव का अनुभव भी किया। इस दवाव के फलस्वरूप तनाव, मूल्यों की तलाश और विविध सन्दर्भो की कहानियाँ लिखी गईं।"

परन्तु सातवें दशक तक आते-आते यह स्थिति बदल जाती है। भारत की आम जनता और उसकी भावनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाले हमारे कहानी-कारों का सारा मोह भंग हो जाता है। वे रोमान्स को परे झटक नए यथार्थ का साक्षात्कार करने लगते हैं। डा० बच्चनसिंह के अनुसार, इस संक्रमण-काल मे— 'मूल्यों के पूर्ण विघटन के साथ-साथ व्यक्तित्वों का खण्डित होना स्वाभाविक था, जिसकी झलक सबसे अधिक नेतृवर्ग में दिखाई पड़ी। मूल्यहीनता की चरम परिणति कांग्रेस के विभाजन मे हुई, यों सन् १९६२ मे चीन के हमले के समय ही मोहभंग हो चुका था। पुरानी पीढ़ी के प्रति क्षोभ-आक्रोश का समारम्भ यहीं से हुआ। बुद्धि-जीवी वर्ग का संकट और भी गहरा था। उसकी आवाज सुनने वाला कोई भी नही था। पुरानी पीढ़ी से सम्वाद की कोई स्थिति ही नही रह गयी। अकेलेपन और निर्वासन का एहसास गहरा हो गया, किन्तु इसकी अपेक्षा ऊब की स्थिति अधिक उभरी। वैसे यह स्पष्ट ही है कि अकेलेपन और निर्वासन में जहाँ गहन रचनात्मक दृष्टिकोण है, वहाँ ऊब में विघटनात्मक और सतही विद्रोहात्मक रवैया अधिक दिखायी पड़ता है। ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह, गंगाप्रसाद विमल, गिरिराज किशोर, रवीन्द्र कालिया, महेन्द्र भल्ला, ज्ञानप्रकाश, काशीनाथ सिंह इस दशक के अन्य उल्लेखनीय कहानीकार हैं।"

आठवें दशक में यह मोहभंग और भी अधिक गहरा हुआ है। सन् १९७१ के आम चुनावों के बाद कांग्रेस-सरकार ने बैंकों का राष्ट्रीयकरण जैसे कई प्रगतिशील कदम उठाए, परन्तु उनका आम जनता को लाभ नहीं मिला। फिर आपात्काल आया जिसमें बुद्धिजीवियों के चिन्तन और लेखन पर अकुश लगा दिया गया। और उसके बाद जनता पार्टी ने शासन की बागडोर सम्हाली। परन्तु किसी के किए कुछ भी न हो सका। केवल शासक बदल गए; जनता का जीवन अधिकाधिक विषम और दुर्वह बन गया आज भी यही स्थिति है हमारे ९ इन सारे परिवर्तनों को अपनी

कहानियों में अभिव्यक्ति प्रदान करते रहे है । सम-सामयिक यथार्थ का जैसा विविध-मुखी चित्रण आजकल की कहानियों में हो रहा है, वैसा इससे पहले कभी नहीं हुआ । इस युग में अनेक नए कहानीकार उभरे है जिनमें पुरुष और नारी दोनों ही हैं । इनकी संख्या इतनी अधिक है कि यहाँ उन सभी का नामोल्लेख करना सम्भव नही प्रतीत होता । अस्तु,

शिल्प-विधान

आधुनिक कहानी-साहित्य का उपर्युक्त विवरण यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि हमारी नई कहानी व्यक्ति और समाज के प्रत्येक पक्ष और रूप को अपना कर आगे बढ़ रही है। आज उसका क्षेत्र पहले से अधिक व्यापक और गहरा हो उठा है। जहा तक नई कहानी के शिल्प-विधान का सम्बन्ध है, इस क्षेत्र में भी नए-नए प्रयोग होते रहे है, जिनके कारण उसके रूप और प्रभाव में बढ़ोतरी हुई है। शैली-प्रकार की दृष्टि से आंचलिक, लोककथा, लघुकथा, प्रतीक, नायकहीन, चित्रात्मक, अनुभूति-प्रधान, डायरी, पत्र आदि विभिन्न प्रकार की शैलियों को अपनाया गया है। भाषा के क्षेत्र में प्रधान रूप से आम बोलचाल की भाषा का ही अधिक प्रयोग किया गया है, क्योंकि इसी भाषा में यथार्थ का चित्रण अधिक प्रेषणीय और सम्वेदनशील बनकर उभरता है। यह भाषा बिना किसी संकोच के जन-सामान्य में प्रचलित देशी-विदेशी, प्रान्तीय-आंचलिक आदि शब्दों को अपनाती हुई बड़ी सहजता के साथ अपनी बात कह जाती है। पात्र, स्थिति, मनोभावना आदि के अनुरूप अपना रूप हल्का-सा बदलती चलती है। भाषा का यह रूप बहुत लोकप्रिय हुआ है। नए प्रतीकों के प्रयोग ने भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति को अधिक व्यंजक और सशक्त बनाया है।

आज की कहानी में कहानी के रूढ़ तत्त्वों के निर्वाह के प्रति कोई मोह नही दिखाई देता। आज वह स्वच्छन्द गति से विकसित होती जा रही है। उसका रूप पहले से बहुत भिन्न और व्यंजक हो उठा है। इसका प्रमाण उस समय देखने को मिला जब कुछ वर्ष पूर्व 'सारिका' में आधुनिक कहानीकारों की कहानियों के साथ बाबू भगवतीचरण वर्मा की क्रमशः बारह कहानियाँ प्रकाशित हुई थी। उन्हे पढ़कर ऐसा लगा मानो तेजस्वी युवाओं के साथ पुरानी वेशभूषा और मान्यताओं वाला कोई बुजुर्ग आ बैठा हो। इसका कारण यह है कि आज की हिन्दी-कहानी देशी-विदेशी विभिन्न भाषाओं के कहानी-साहित्य से अपना घनिष्ठ सम्बन्ध बनाए अपने रूप का विस्तार करती चल रही है। हिन्दी मे विश्व की श्रेष्ठ कहानियों के अनुवाद प्रकाशित होते रहते हैं। इससे भावात्मक एकता को बढ़ावा मिला है। हिन्दी-कहानी में जीवन के शुभ और अशुभ दोनों पक्ष चित्रित हो रहे है; क्योंकि जीवन का यथार्थ इन्हीं दोनो के सम्मिलित रूप मे ही व्यक्त होता है। इस दृष्टि से आज की कहानी अपनी पूर्ववर्ती कहानी की अपेक्षा अधिक विकसित, अधिक यथार्थवादी और अधिक मार्मिक हो उठी है

नई कहानी की इस विकास-यात्रा के दौरान अनेक आन्दोलन उठते रहे है। प्रारम्भ में यह आन्दोलन 'नई कहानी' का नाम धारण कर उठा। कुछ समय बाद 'सचेतन कहानी' नाम का दूसरा आन्दोलन 'नई कहानी' का विरोध करता हुआ मैदान में उतर आया। अत्यधिक कुण्ठा और क्षोभ का परिणाम 'अकहानी' नामक आन्दोलन के रूप में सामने आया जिसने कहानी को कथा-तत्त्व से रहित बना देने का प्रयत्न किया। और अभी कुछ समय पहले एक नया आन्दोलन 'समान्तर कहानी' के नाम से उभरा था, परन्तु दो-तीन वर्ष में ही शान्त हो गया। इन विभिन्न कहानी आन्दोलनों के मूल में कहानीकारों के विभिन्न गिरोह अपनी-अपनी नेतागीरी को ही स्थापित करने का प्रयत्न करते रहे हैं जिससे उनकी प्रसिद्धि और मूल्य में इजाफा हो सके। हमने इस निबन्ध में इन आन्दोलनों का विस्तृत विवेचन इसलिए नहीं किया है कि इन आन्दोलनों ने हिन्दी-कहानी को भटका कर उसका अहित ही अधिक किया है। इन आन्दोलनों के मूल में द्वेष की भावना ही अधिक रही है।

कहानी की नवीनतम उपलब्धियाँ

आज की हिन्दी-कहानी नए कथ्य, नए शिल्प आदि के ऊबड़-खाबड़ रास्तों को पार करती हुई, जन-जीवन के प्रशस्त राजपथ पर आ खड़ी हुई है। अब हमारे कहानीकार प्रेरणा और दिशा-निर्देशन के लिए न तो विदेशों की ओर ताकते हैं और न उधार ली हुई कृत्रिम अनुभूतियों का नकाब ओढ़ उनका चित्रण करते हैं। समष्टि रूप से, आज की कहानी प्रेमचन्द की यथार्थवादी-परम्परा को विकसित करती हुई दृढ़ आत्मविश्वास के साथ आगे बढ़ते रहने का प्रयत्न कर रही हैं। हमारे नए कहानीकार आज ऐसे युग में जी रहे हैं जो अपने विषम सामाजिक-गठन के कारण उनके अस्तित्व को चुनौती दे रहा है। स्थापित समाज-व्यवस्था उनके सामने नाना प्रकार के सुविधावादी प्रलोभन प्रस्तुत कर उन्हें अपने पथ से विरत करने का प्रयत्न करती रहती है, परन्तु वे इस चुनौती को स्वीकार कर उससे टक्कर ले रहे हैं।

हिन्दी का यह नया कहानीकार न तो तटस्थ आलोचक द्रष्टा है और न मानवीय यातनाओं का मूक साक्षी बना रहना पसन्द करता है। कमलेश्वर के शब्दों में, आज का कहानीकार—

'देख रहा है कि राजनीति ने सामान्य आदमी को मात्र एक मोहरा माना है उनके लिए काम करने का दावा करते हुए मात्र उसका अपने लिए इस्तेमाल किया है। ऐसी स्थिति में सामान्य आदमी की यातनाएँ अधिक घनी और मारक हो गई हैं। आज का लेखक मनुष्य की यातनाओं का मूक अथवा तटस्थ साक्षी नहीं, उसका सहभोक्ता और सहयात्री है। इसलिए आज की कहानी सन्दर्भ-सापेक्ष है। वह 'अनुभव' तक सीमित न रह 'अनुभव के अर्थों' तक पहुँचती है, जहाँ आदमी एक विराट् ऐतिहासिक प्रांगण में मौजूद है। यह 'संघर्षशील यथार्थ' का दौर है, जो मुक्ति और न्याय के लिए प्रतिबद्ध है और भौगोलिक सीमाओं से आबद्ध नहीं है। यह आदमी के लिए, आदमी द्वारा आदमी की लड़ाई का सबल पक्ष है

आम आदमी की कहानी

कमलेश्वर का यह कहना है कि आज की हिन्दी-कहानी सामान्य आदमी के जीवन से पुनः जुड़ गई है। अब उसमें व्यक्तिगत असुविधाओं, त्रासों और तनावों के लिए स्थान नहीं रहा है। सन् १९५० के आसपास लिखी गई कहानियों और आजकल लिखी जा रही कहानियों की मानसिकता एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न है। इसका कारण यह है कि आज परिवर्तन की गति बहुत तेज हो गई है। देश के औद्योगिक-विकास ने हमारे सामाजिक और राजनीतिक दोनों जीवन को बुरी तरह से झकझोर डाला है। समाज का सुविधाभोगी-वर्ग, जिसका अर्थतन्त्र और राजतन्त्र दोनों पर एकाधिकार है, मानव-मात्र की शक्ति का उपयोग अपने इस एकाधिकार को दृढ़तर बनाने के लिए कर रहा है। हमारे अधिकांश नवयुवा कहानीकार समाज के निम्न-मध्य और मध्यवर्ग के अंग है। आज समाज का यही वर्ग सबसे अधिक पीड़ित और त्रस्त है। क्योंकि यह वर्ग शिक्षित है और सोचने-समझने का माद्दा रखता है, इसी कारण परिस्थिति की विषमता के प्रति पूरी तरह सजग है। इसे इस बात की शिकायत है कि समाज का सुविधाभोगी-वर्ग इसे अपने स्वार्थ-सिद्धि का मोहरा बनाता रहता है, और यह बनना नहीं चाहता। इसीलिए आज की कहानी 'अनुभूति के एक बिन्दु मात्र का चित्रण' मात्र नही रह गई है। जिन विरोधी परिस्थितियों में आज का आदमी जी रहा है, वे ही आज की कहानी मे चित्रित हो रही है।

हमारी नई अर्थ-व्यवस्था ने हमारे सामाजिक और पारिवारिक जीवन को आक्रान्त कर रखा है। पुरानी मान्यताएँ और जीवन-मूल्य आज अर्थहीन हो उठे है। अर्थ की विषमता आज हमारे जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप बन गई है। इस विषमता ने नई समस्याओं और नए जीवन-मूल्यों को जन्म दिया है। आज की कमरतोड़ मँहगाई ने सामान्य जीवन-यापन अत्यन्त कष्टकर बना रखा है। इसीलिए हमारी लड़कियाँ भी पढ़-लिख कर नौकरी करने लगी है और अब नौकरी भी उन्हे आसानी से नहीं मिल पाती। अधिकांश लड़कियाँ मन मे विवाह की इच्छा सँजोए उस अवस्था तक नौकरी करती रहती हैं, जब तक कि उनकी विवाह की उमर नही निकल जाती। इधर ऐसी कई कहानियाँ पढने को मिलीं, जिनमें हमारी इन चिर-कुमारी बनी रहने वाली नारियों की मार्मिक वेदना प्रस्फुटित हुई है। इनके अतिरिक्त दहेज, तलाक आदि की समस्याएँ भी विकराल रूप धारण करती जा रही है। दूसरी ओर हमारा शिक्षित नवयुवा-वर्ग बेकारी, पक्षपात, भ्रष्टाचार आदि के कारण अपने भविष्य को अन्धकारमय देख आक्रोश से उबल अनुशासनहीन होता चला जा रहा है। औद्योगिक-विकास ने हमारे महानगरो के जीवन को भयंकर रूप से विषैला, यान्त्रिक और नीरस बना रखा है। महानगरीय जीवन की घुटन और एकाकीपन नवयुवा का आक्रोश आर्थिक विषमता आदि के विभिन्न मार्मिक चित्र हमारी नई

कहानियों में अंकित हो रहे हैं। इसी को कमलेश्वर ने 'कहानी का आम आदमी के जीवन से जुड़ना' कहा है।

हमारी आज की कहानी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें विषम परिस्थितियों से उत्पन्न संघर्ष से मुँह मोड़ पलायन करने का स्वर न रहकर, संघर्ष करने की अदम्य आकांक्षा व्यक्त हो रही है। हमारा नया कहानीकार जिस विषम जीवन को भोग रहा है, उसी की सच्ची और सही तस्वीर अपनी कहानियों में अंकित कर रहा है। ऐसा लगता है मानो आज उसके लिए कल्पना बिल्कुल बेमानी हो उठी है। यही हमारी पुरानी प्रेमचन्दीय-कहानी-परम्परा है. जो कहानी को जीवन के यथार्थ से सही रूप में जोड़ती रही है।

अन्त में एक बात और। हमारी आज की हिन्दी कहानी में हमारा नागरिक जीवन ही अधिक अभिव्यक्ति पा रहा है। ग्रामीण-जीवन और उसकी समस्याओं से सम्बन्धित कहानियाँ बहुत कम लिखी जा रही हैं। इसका कारण यह है कि हिन्दी का नया कहानीकार नागरिक परिवेश में ही रहता और उसे भोगता है। गाँव से आकर नगर में रहने वाला कहानीकार भी वहीं का होकर रह जाता है। दूसरी बात यह भी है कि आज ग्राम्य-जीवन की तुलना में नागरिक-जीवन अधिक विषम, त्रस्त और पीड़ित है। यही कारण है कि आज हिन्दी-कहानी नागरिक-जीवन तक ही सीमित होकर रह गई है। हमारे कहानीकारों को इस कमी की ओर ध्यान देना चाहिए। क्योंकि भारत ग्राम-बहुल देश है और गाँवों की अपनी अलग समस्याएं है।

५

यथार्थवाद : एक पुनर्मूल्यांकन

- यथार्थ से अभिप्राय
- यथार्थवाद का शास्त्रीय रूप, शुभ-अशुभ : दोनों का चित्रण
- यथार्थ-चित्रण का मूल लक्ष्य, अतियथार्थवाद
- कला-विधान का भी विरोध
- हिन्दी और अतियथार्थवाद, प्राकृतवादी यथार्थवाद, हिन्दी और प्राकृतवाद
- यथार्थवाद का इतिहास, यथार्थवाद का आधुनिक रूप, व्यक्तिवाद से विरोध, व्यक्तिवाद का घातक प्रभाव, व्यक्ति और समाज : किसे प्रश्रय दिया जाय ?
- यथार्थ और कल्पना
- यथार्थ और आदर्श : क्या परस्पर विरोधी हैं ? चित्रण के दो भिन्न आयाम, आभिजात्य सौन्दर्य-शैली, आदर्श और यथार्थ : नदी के दो तट, आदर्श और यथार्थ का समन्वय : स्वस्थ काव्य का जनक, सम्भाव्य यथार्थ की कल्पना : मूल प्रेरक शक्ति, यथार्थवाद-सम्बन्धी भ्रान्तियाँ, व्यक्ति-स्वातंत्र्य का नारा, राजनीति और साहित्य

'यथार्थ' से अभिप्राय

'यथार्थवाद' शब्द की वैसे तो नाना प्रकार की व्याख्याएँ की जाती रही हैं, परन्तु 'यथार्थ' शब्द का जो शाब्दिक अर्थ लिया जाता है, वह है—'जो जैसा है'। अर्थात् जो हमें दिखाई देता है, जिसका हम अनुभव करते है, उसे उसी रूप में प्रस्तुत कर देना। अत: 'यथार्थवाद' से सामान्य अभिप्राय यही निकला कि किसी भी वस्तु, दृश्य, घटना, स्थिति आदि का जैसे का तैसा वर्णन या चित्रण कर देना। अर्थात् यथार्थ का चित्रण करते समय कलाकार कल्पना का प्रयोग न करे। परन्तु साहित्य अथवा कला के क्षेत्रों मे 'यथार्थवाद' एक विशिष्ट विचारधारा से सम्बद्ध माना जाता रहा है, और विद्वानों ने उसकी भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं। इस शब्द का अपना एक इतिहास रहा है। आरम्भ में 'यथार्थवाद' शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग किया जाता

रहा था, आज उससे नितान्त भिन्न अर्थ में प्रयोग किया जाता है। इन दोनों अर्थों मे समानता केवल इतनी ही रही है कि 'यथार्थ' शब्द का मूल अर्थ—'जो जैसा है, वैसा ही' सभी प्रकार की व्याख्याओं में सुरक्षित रहा है। अन्तर इस अर्थ में आता रहा है कि किसका चित्रण करना चाहिए और किसका नहीं करना चाहिए। साथ ही इस बात पर विचार होता रहा है कि यथार्थ का चित्रण करने का उद्देश्य क्या हो। आगे हम इन्हीं सारी बातों का सोदाहरण विवेचन करने का प्रयत्न करेंगे।

यथार्थवाद' का शास्त्रीय रूप

दर्शन-शास्त्र में जिसे 'भौतिकवाद' कहा गया है, उसे ही साहित्य में 'यथार्थवाद' कहा जाता है। डा० विजयेन्द्र स्नातक के अनुसार यथार्थवाद—"साहित्य की एक विशिष्ट चिन्तन-पद्धति है, जिसके अनुसार कलाकार को अपनी कृति में जीवन के यथार्थ रूप का अंकन करना चाहिए। यह दृष्टिकोण वस्तुतः आदर्शवाद का विरोधी माना जाता है। पर वस्तुतः तो आदर्श उतना ही यथार्थ है जितनी कि कोई भी यथार्थवादी परिस्थिति। जीवन में अयथार्थ की कल्पना दुष्कर है। किन्तु अपने पारिभाषिक अर्थ में यथार्थवाद जीवन की समग्र परिस्थितियों के प्रति ईमानदारी का दावा करते हुए भी प्रायः सदैव मनुष्य की हीनताओं और कुरूपताओं का चित्रण करता है। यथार्थवादी कलाकार जीवन के सुन्दर अंश को छोड़कर असुन्दर अंश का अंकन करना चाहता है। यह एक प्रकार से उसका पूर्वाग्रह है।"

केवल आलोचना पढ़कर, आलोच्य कृतियों को बिना पढ़े, आलोचना कर बैठना गलत पद्धति है। इसमें भ्रान्तियों को बढ़ावा मिलता है। साम्यवाद का नाम सुनकर ही, लाल कपड़े को देख साँड़ की तरह भड़क उठने वाले आलोचक यथार्थवाद की ऐसी ही भ्रामक व्याख्याएँ करते रहते हैं। क्योंकि इधर काफी समय से यथार्थ-चित्रण को प्रगतिवादी-साहित्य का मूलाधार माना जाता रहा है, और प्रगतिवाद को साम्यवाद का साहित्यिक-संस्करण। आधुनिक यथार्थवादी-साहित्य को पढ़ते रहने वाले सुधी पाठक यह जानते हैं कि उसमें जीवन के शुभ-अशुभ, सुन्दर-असुन्दर, दोनों रूपों का चित्रण होता रहता है। यदि कोई कलाकार किसी निम्नवर्गीय पात्र में कुछ उदात्त गुणों की झलक दिखा देता है, तो हमारे सम्भ्रान्तवर्गीय, आदर्शवादी आलोचकों को बड़ा अटपटा-सा लगता है। क्योंकि उनकी दृष्टि में शुभ और उदात्त गुणों का बसना उसी प्रकार केवल उच्चवर्गीय सम्भ्रान्त लोगों के पास ही हो सकता है, जैसे कि धन पर उनका एकाधिकार होता है। ऐसे लोग कभी यह सोच ही नहीं पाते कि निर्धन अशिक्षित और दीन-हीन व्यक्ति भी उदात्त गुणों का स्वामी हो सकता है। जबकि वास्तविकता यह है कि ऐसे ही लोगों में उदात्त गुण प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। और जब समाज का यथार्थ-चित्रण करते समय कलाकार ऐसे लोगों का ही अधिक चित्रण करते हैं, तो उस चित्रण में समाज का दीन-दलित-शोषित रूप ही अधिक है

और इस रूप का ही अधिक चित्रण होने का कारण यह है कि समाज का लगभग नब्बे प्रतिशत अंश इसी विषम और दयनीय स्थिति में रहने को मजबूर है। इसलिए इसका अधिक चित्रण होना नितान्त स्वाभाविक माना जायेगा। यथार्थ-चित्रण में, इसके साथ ही, समाज के शेष बचे उस दस प्रतिशत अंश का भी चित्रण होना है, जो उस नब्बे प्रतिशत अंश की उस दीन-हीन दशा के लिए पूरी तरह से जिम्मेदार है। और समाज का यह नितान्त अल्पमत वाला तथाकथित् उच्च-सम्भ्रान्त-धनी-वर्ग उस प्रचण्ड बहुमत वाले दीन-हीन-वर्ग की उस दयनीय दशा के लिए जिम्मेदार है, तो उसमें उदात्त गुणों का एकान्त अभाव रहना भी नितान्त स्वाभाविक है। तो फिर हमारे सम्भ्रान्तवर्गीय तथा आभिजात्य-मानसिकता वाले आलोचकों को यह शिकायत क्यों है कि यथार्थवादी-चित्रण में समाज के दुख-दैन्य का ही अधिक चित्रण क्यों होता है। जो यथार्थ है, उसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है?

शुभ-अशुभ : दोनों का चित्रण

इसमें सन्देह नहीं कि यथार्थवादी-साहित्य में जीवन की विषमताओं और विकृतियों का ही अधिक चित्रण किया जाता है। इसका कारण हम ऊपर बता आए हैं। परन्तु पूर्वाग्रह को इसका कारण नहीं माना जा सकता, जैसा कि डा० विजयेन्द्र स्नातक मानते हैं। यथार्थ का सही अंकन यही है। यथार्थवादी-साहित्य में एक प्रकार से पूरे समाज का चित्रण किया जाता है, किसी सीमित अथवा विशिष्ट वर्ग या अंश का नहीं। सामन्ती और पूंजीवादी समाज-व्यवस्था में, शोषक-वर्ग के विशिष्ट सुखी-सम्पन्न जीवन की पृष्ठभूमि में, समाज के सामान्य जन के जीवन के दुख-दैन्य और विषमताओं का ही नग्न-नर्तन होता रहता है। और यथार्थवादी-चित्रण का मूल लक्ष्य इसी जीवन का चित्रण कर, उसकी उस विषम दशा के कारणों की ओर संकेत करते हुए, उस जीवन को सुधारने और उन्नत बनाने का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष संकेत देना होता है। अपने इस चित्रण में यथार्थवादी कलाकार समाज के शुभ और अशुभ, दोनों रूपों का चित्रण करता है। वह व्यक्ति के उन गुणों को उभारने की कोशिश करता है जिन्हें परिस्थितियों की विषमता ने उसके दुर्गुण बना दिया है। उसकी यह मान्यता है कि विषम सामाजिक परिस्थितियाँ ही व्यक्ति को पाप या अपराध करने के लिए मजबूर करती हैं। मनुष्य स्वभाव से बुरा या बेईमान नहीं होता। इसलिए यथार्थवादी कलाकार उन यथार्थ परिस्थितियों और उनके कठोर शिकंजे में जकड़े और छटपटाते सामान्य व्यक्ति के जीवन का यथार्थ चित्रण कर उसके प्रति पाठकों की सहानुभूति जाग्रत करने का प्रयत्न करता है। और अपने इस यथार्थ की आधार-भूमि पर ही वह उस आदर्श भविष्य की कल्पना करता है, जिसमें समाज का प्रत्येक व्यक्ति सभी प्रकार से सुखी और शान्तिमय जीवन व्यतीत कर सकेगा। उसका यह आदर्श उसके उस यथार्थ से गहरे रूप से जुड़ा रहता है। यथार्थवादी कलाकार उस चिकित्सक के समान है, जो किसी भयंकर बीमारी से पीड़ित अपने मरीज के रोग का सही निदान कर उसका सही [illegible] करने का प्रयत्न करता है [illegible] यही [illegible] है और यही

समाजवाद या साम्यवाद है। फिर इसमें पूर्वाग्रह की बात कहाँ आ जाती है। डा० विजयेन्द्र स्नातक जैसे विचारक अपनी इसी भ्रान्त धारणा के कारण भ्रान्त निष्कर्ष देते रहते है। अस्तु,

यथार्थ-चित्रण का मूल लक्ष्य

जैसा कि हम पीछे बता आए है, यथार्थवाद का मूल लक्ष्य समाज के यथार्थ रूप और दशा का अंकन करना रहता है। इसके लिए वह या तो पूरे समाज को अपनी पृष्ठभूमि बनाता है, अथवा उसके किसी एक ऐसे विशिष्ट अंश को, जो पीड़ित और दमित है। इस चित्रण में वह समाज और उसमें रहने वाले व्यक्तियों के पाप-पुण्य, गुण-दोष, शक्ति-असामर्थ्य, रूढ़ियों-मान्यताओं आदि सभी का अंकन करता है। यथार्थवाद पर यह लांछन लगाया जाता है कि वह पीड़ित-शोषित-दलित समाज की कुरूपताओं और हीनताओं तथा उच्चवर्गीय समाज के अन्याय-अत्याचार और घिनौने रूप का ही अधिक चित्रण करता है। यह लांछन सत्य है, क्योंकि ये दोनों बाते सत्य हैं। सम्पन्न और धनी वर्ग अहंकार मक्कारी, अन्याय-अत्याचार और पाप का पुंजीभूत रूप है, क्योंकि वह दूसरों की कमाई पर पलता है और उन्हें ही नीच, बेईमान और हरामखोर कहता और समझता है। यथार्थवादी कलाकार इसी यथार्थ का चित्रण करने के कारण बदनाम है।

अतियथार्थवाद

यथार्थवाद की ही एक शाखा 'अति यथार्थवाद' कहलाती है। इसमें प्रयुक्त 'अति' शब्द ही इस बात के प्रति संकेत कर रहा है कि यह उच्छृंखल है, यथार्थवाद की सीमाओं का उल्लंघन करने वाला है। यथार्थवाद का सन्तुलित आक्रोश और विद्रोह अतियथार्थवाद में असन्तुलित भयंकर विक्षोभ का रूप धारण कर लेता है। वस्तुतः यथार्थवाद पर जो लांछन लगाए जाते रहे हैं, उनका असली कारण अति-यथार्थवादी जीवन-दर्शन है, जो सभी प्रकार की व्यवस्था का विरोधी और अव्यवस्था का समर्थक आस्थाहीन अनीश्वरवादी जीवन-दर्शन है। जो कुछ परम्परागत है तथा जो कुछ रूढ़ियों और व्यवस्था में बँधा हुआ है, उस सबको समूल नष्ट कर देना ही अतियथार्थवादी आन्दोलन का असली ध्येय रहा है। जहाँ तक नीति-विषयक मान्यताओं का सम्बन्ध है, इस विचारधारा के समर्थकों के अनुसार आधुनिक सभ्य-समाज में जो नैतिकता आदर्श समझी जाती है, वह मार्ग निरर्थक और सुविधाभोगी-वर्ग की उपज है। इसीलिए वे इसका विरोध करते हैं। इसी दृष्टिकोण और जीवन-दर्शन के कारण अतियथार्थवादी कला और साहित्य में मात्र विकृतियों का ही चित्रण होता है, जो प्रायः अश्लीलता का स्पर्श करने लगता है। इस जीवन-दर्शन पर फ्रायडवाद का गहरा प्रभाव होने के कारण इसमें कलाकार की सारी चेतना काम-कुण्ठा की धुरी पर ही घूमती रहती है।

इस अतियथार्थवाद के सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि जब रूस में इसका उदय हुआ था- उस समय यह एक क्रान्तिकारी विचारधारा के

रूप में सामने आई थी। यह शब्द अंग्रेजी के 'सुररियलिज्म' का हिन्दी अनुवाद है। इसका उदय फ्रांस में प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के उपरान्त हुआ था। परम्परा का विरोध और व्यवस्था के प्रति विद्रोह इसके मूल स्वर रहे हैं। इसके समर्थकों का कहना था कि जीवन ने उनके साथ दगा किया है, इसलिए इस अनैतिक व्यवस्था का भण्डाफोड़ और विध्वंस करना चाहिए। इसके लिए उन्होंने परम्परागत कला, संस्कृति, चिन्तन, सौन्दर्य-बोध आदि सबका विरोध किया था। उन्होंने परम्परा, धर्म, आस्तिकता, भावुकता आदि को ही मनुष्य की महत्त्वहीनता और दुर्दशा के लिए जिम्मेदार ठहराया था। उनका कहना था कि तर्कपूर्ण चिन्तन ने साहित्य को कुछ घिसे-पिटे वाक्यों और शब्दों के अतिरिक्त और कुछ भी नही दिया है। उनके अनुसार भावनाओं की तर्क-मुक्त स्वच्छन्द अभिव्यक्ति भाषा का संस्कार और कविता का पुनरुद्धार करेगी। परन्तु यह दर्शन मूलत निराशावादी विध्वंसक जीवन-दर्शन है, जो यथार्थवाद के मूल उद्देश्य का कहीं भी स्पर्श नहीं कर पाता। यह मूलतः नकारात्मक जीवन-दर्शन है।

कला-विधान का भी विरोध

अतियथार्थवादियों ने जिस प्रकार परम्परागत चिन्तन और मूल्यों का विरोध किया था, उसी प्रकार कला-विधान में भी उन्होंने परम्परागत कला-सिद्धान्तों की उपेक्षा की है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में वे कलाकार की पूर्ण स्वतन्त्रता के समर्थक हैं। उनका कहना है कि अतियथार्थवाद प्रधानतः स्वप्न और अवचेतन से ही सम्बद्ध है, इसलिए इसकी अभिव्यक्ति किसी निश्चित कला-विधान के माध्यम से नहीं की जा सकती। क्योंकि स्वप्न और अवचेतन व्यापारो के कितने ही रूप हो सकते है, इसलिए उनकी अभिव्यक्ति के प्रकार भी अनेक हो सकते है। इसीलिए ये लोग भाषा, छन्द, अलंकार आदि किसी के भी बन्धन को स्वीकार नही करते। नए-नए प्रयोग करते है और प्रचलित शब्दों का प्रयोग नए-नए अर्थो के सन्दर्भ मे करना उचित समझते है। इनके अनुसार अभिव्यक्ति की उपलब्धि शब्दों के अनियमित, बेतरतीब तथा बेमानी चयन और संयोजक के माध्यम से की जाती है। अतः ऐसी रचनाओ मे कोई तार्किक अथवा भावात्मक शृंखलाबद्धता नहीं होती। साहित्य में अनियमित, अतार्किक शब्दक्रम ही अनियमित, अतार्किक भावक्रम के आधार होते हैं।

हिन्दी और अतियथार्थवाद

हिन्दी के व्यक्तिवादी साहित्य पर अतियथार्थवाद का प्रभाव पड़ा है; विशेष रूप से प्रयोगवाद पर इसका काफी प्रभाव रहा है। प्रयोगवादी-काव्य में मिलने वाले भाव-चित्रों के संयोजन, भावों के मुक्त साहचर्य का प्रयोग, बिम्ब तथा प्रतीक-विधानो मे इस प्रभाव को देखा जा सकता है। परन्तु यह प्रभाव यूरोप के अन्य कलावादी आन्दोलनो के प्रभाव के साथ इतना घुलमिल गया है कि उसे अलग से पहचानना मुश्किल है। इसके विपरीत हिन्दी में उभरे 'प्रपद्यवाद' पर इसका स्पष्ट प्रभाव

दिखाई देता है। 'प्रपद्यवाद', जिसे 'नकेनवाद' भी कहा जाता है, के प्रवर्तक तीन कवियों—नलिन विलोचन, केसरीकुमार तथा नरेशकुमार के काव्य पर इसका गहरा असर रहा है। ये लोग भी अतियथार्थवाद की मूल विशेषता—अव्यवस्था—को प्रधान मान कविता लिखते रहे। परन्तु 'हालावाद' के ही समान यह 'प्रपद्यवाद' भी अधिक नहीं चल सका।

प्राकृतवादी यथार्थवाद

यह अंग्रेजी शब्द 'नेचुरलिज्म' का हिन्दी-अनुवाद है। स्थूल रूप में प्राकृतवाद को यथार्थवाद का साथी और आदर्शवाद का विरोधी माना जा सकता है। इसके अनुसार मानव-मन की समस्त प्रक्रियाएँ इन्द्रियजन्य हैं। जो कुछ है, इन्द्रियों द्वारा ही उद्भूत होता है। इसलिए इसमें अध्यात्म को रंचमात्र भी स्थान नहीं मिला है। इसे एक प्रकार से फ्रांसीसी यथार्थवाद का ही विकसित रूप माना जा सकता है। इसके अनुसार—जो जैसा है, उसका बिल्कुल वैसा ही चित्रण होना चाहिए—एकदम नग्न, कठोर और यथार्थ। कल्पना की इससे दुश्मनी है। इसकी दृष्टि में कल्पना असह्य अपराध है। इसके अनुयायी बिना किसी राग-द्वेष के, बिल्कुल तटस्थ दर्शक के समान, जीवन का यथातथ्य चित्रण कर देना ही कला का चरम लक्ष्य और परम उपलब्धि मानते हैं। इसीलिए इनकी दृष्टि में श्लील-अश्लील का कोई भेद नहीं रह जाता और न नैतिक-अनैतिक का। सृजन के क्षणों में ये पूर्ण तटस्थ दर्शक बने रहते हैं, इसी कारण इनकी रचना इनके व्यक्तित्व से अछूती-सी रहती है। ये लोग अपने द्वारा किए गए वर्णन के सम्बन्ध में अपनी प्रतिक्रिया प्रकट नहीं करते। इसके विपरीत यथार्थवाद में लेखक अपने लिखे हुए के सम्बन्ध में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता हुआ अपने दृष्टिकोण और लक्ष्य के प्रति संकेत करता चलता है। प्राकृतवादी कलाकार के अनुसार अगर दृश्य या वर्णन कुरूप का है, तो वह कुरूप ही रहेगा, अगर कथ्य अश्लील है तो उसका वर्णन भी वैसा ही होगा। वह वस्तु के यथार्थ, नग्न चित्र को प्रस्तुत कर देना ही कलाकार की सबसे बड़ी ईमानदारी मानता है।

वस्तुतः इस प्राकृतवाद को यथार्थवाद का कल्पना-रहित, निष्कलुष और यथार्थ रूप माना जा सकता है। प्राकृतवादी कलाकार यथार्थ को कला का सच्चा प्रतिरूप और आदर्श को उसका विकृत रूप मानता है। वह जगत के वस्तुपरक स्थूल रूप का अंकन करना ही अपना प्रधान कर्त्तव्य मानता है। संक्षेप में, प्राकृतवादी कलाकार कैमरे का काम करता है। उसे जो कुछ जैसा दिखाई देता है, वह बिना किसी लाग-लपेट के, पूरी ईमानदारी से उसका वैसा ही चित्रण कर देता है। परन्तु इस बात का ध्यान अवश्य रखता है कि किस एंगिल से खींचे जाने पर उसका चित्र अधिक प्रभावशाली बन सकेगा। यहीं आकर वह अपनी रचना से जुड़ जाता है। प्राकृतवाद यथार्थ का विशुद्ध रूप होता है।

प्राकृतवादी यथार्थवाद का जन्म उन्नीसवीं सदी में फ्रांस में हुआ था। फ्रांसीसी भाषा के प्रसिद्ध उपन्यासकार एमिल ज़ोला और फ्लावेयर को इस वाद का

माना जाता है। जीवन और जगत के प्रति इनका दृष्टिकोण स्पष्ट और वैज्ञानिक था। इसी कारण इनके चिन्तन और निष्कर्षों में एक वैज्ञानिक की सी वस्तुपरकता और तटस्थता मिलती है। उस युग में इस प्राकृतवाद को साहित्यिक ईमानदारी का प्रतीक माना जाता था। एमिल जोला के 'नाना' जैसे उपन्यास उस युग में पर्याप्त लोकप्रिय और साहित्यिक-चर्चा के विषय बने रहे थे। अनेक आदर्शवादी समीक्षकों ने एमिल जोला पर अश्लील-चित्रण का लांछन लगाते हुए उनका घोर विरोध भी किया था। यूरोप में इस वाद का प्रभाव फैला तो अवश्य, परन्तु क्षणस्थायी बनकर ही रह गया। फ्रांस के आधुनिक प्रख्यात उपन्यासकार ज्यों पाल सार्त्र के अनेक उपन्यासो पर इसका स्पष्ट प्रभाव आज भी मिलता है।

हिन्दी और प्राकृतवाद

हिन्दी में, एक वाद के रूप में तो प्राकृतवाद का कोई स्पष्ट प्रभाव नहीं मिलता। हिन्दी के किसी भी उल्लेखनीय साहित्यकार ने प्राकृतवाद को एक 'वाद' के रूप में अपनाते हुए कुछ भी नहीं लिखा। फिर भी अनेक कथाकारों की कृतियो में इसका काफी स्पष्ट रूप अपनी झलक दिखा गया है। पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', ऋषभचरण जैन आदि के उपन्यासों और कहानियों को प्राकृतवादी रचनाएँ माना जा सकता है। इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र, अज्ञेय की अनेक रचनाओं में भी इसकी हल्की-सी झलक मिल जाती है। द्वारिकाप्रसाद शर्मा का 'घेरे के बाहर' नामक उपन्यास किसी समय अपने उन्मुक्त यौन-चित्रण के कारण काफी चर्चित और बदनाम रहा था। कुशवाहा कान्त, प्यारेलाल आवारा आदि भी इस प्रकार के उपन्यास लिखते रहे थे। वस्तुतः प्राकृतवाद की एक सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि उसके कथाकार समाज के अन्य पक्षों की ओर ध्यान न देकर यौन-सम्बन्धों के चित्रण को ही सर्वोपरि प्रधान देते रहे थे। इसी कारण इस 'वाद' को आलोचकों के उग्र विरोध और अश्लीलता के लाछन को सहना पड़ा था।

वस्तुतः यथार्थवाद के सन्दर्भ में हमें 'अतियथार्थवाद', 'प्राकृतवाद' आदि का विवेचन इसलिए करना पड़ा कि किसी समय साहित्य में यथार्थ के नाम पर इन वादो का काफी प्रचार होता रहा था। इन पर फ्रायड के मनोविश्लेषण-शास्त्र का गहरा प्रभाव रहने के कारण ही ये समाज के समग्र रूप का चित्रण न कर मूलत मानव-मन की यौन-कुण्ठाओं के ही चितेरे रहे थे। इसलिए इनका दृष्टिकोण समाजवादी न होकर व्यक्तिवादी रहा था। ये सभी नकारात्मक दृष्टिकोण वाले निराशावादी जीवन-दर्शन थे। परन्तु ये यथार्थ-चित्रण का दावा करते थे, इसलिए हिन्दी के प्रयोगवादी भी स्वयं को यथार्थवादी कहने लगे थे। और इसी नाम-भ्रम के कारण काफी समय तक कुछ आलोचक प्रयोगवादियों को भी प्रगतिवादी मानते और घोषित करते रहे थे। अस्तु।

यथार्थवाद का इतिहास

साहित्य में यथार्थ का चित्रण तो अनादि-काल से होता आया है। विश्व के नग-पुराने सभी साहित्यकार अपनी रचनाओं में अपने-अपने युग-जीवन का चित्रण करते रहे हैं। परन्तु आजकल इस शब्द के साथ जो 'वाद' शब्द जुड़ा हुआ है, वह इस तथ्य के प्रति संकेत करता है कि अन्य अनेक साहित्यिक वादों के समान यह 'यथार्थवाद' शब्द भी एक विशिष्ट विचारधारा का द्योतन करता है तथा हिन्दी में कहीं से आया है। वास्तविकता भी यही है कि यह अंग्रेजी के 'रीयलिज्म' का हिन्दी-अनुवाद है। यूरोप में, उन्नीसवीं सदी में रोमान्सवाद के विरुद्ध एक नई विचारधारा का उदय हुआ था जो रोमान्सवाद की अतिशय भावुकता और कल्पनाशीलता के स्थान पर जीवन और जगत के यथार्थ रूप का चित्रण करने की समर्थक थी। उस समय 'यथार्थवाद' शब्द का प्रयोग प्रतिक्रियात्मक सन्दर्भ में हुआ था। साहित्य में इसका आरम्भ फ्लाबेयर के प्रसिद्ध उपन्यास 'मैडम बोवेरी' के सन् १८५६ में प्रकाशन के साथ हुआ माना जाता है। उस समय यह 'प्राकृतवाद' कहलाया। जोला की रचनाओं में इसका प्रौढ़ रूप विकसित हुआ।

इसी यथार्थवाद का एक नया रूप हमें उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में रूसी-कथा साहित्य में विकसित होता मिलता है। बेलिन्स्की, चेर्नीशेवस्की, दोब्रोल्योवाव, दिमित्री पिसारेव आदि की रचनाओं में इसका नवीन आर्थिक-राष्ट्रीयतावादी नैतिक रूप सामने आया। यहीं से यथार्थवाद कामद और व्यक्तिवाद के प्रभाव से मुक्त हो सामाजिक-यथार्थ के क्षेत्र में प्रवेश करता है। इसके उपरान्त पुश्किन, गोगोल, लेरमोन्तोव, तुर्गनेव, दास्तोवस्की और तोलस्तोय की रचनाओं के आधार पर यथार्थवाद की नई व्याख्या की गई। उसमें 'वस्तुगतता, ऐतिहासिक समकालीनता, सामाजिक और राष्ट्रीय आवश्यकता और साहित्य के जीवनगत उत्तरदायित्व पर बल दिया गया।' यथार्थवाद के नए व्याख्याकारों ने इस बात पर बल दिया कि साहित्यकार "सामाजिक ढाँचे के अनुरूप वर्गीय-चरित्रों का चित्रण करें, क्योंकि साहित्य वही है जिसमें राष्ट्रीय जीवन के ऐतिहासिक विकास की अभिव्यक्ति हो तथा जिसमें राजनीतिक तथा आर्थिक मूल्यों का द्वन्द्वात्मक-पद्धति से चित्रण किया गया हो। इस दृष्टिकोण का रोमान्सवाद, विशुद्ध कलावाद अथवा शृंगार मूलकता से सीधा विरोध था। सौन्दर्यशास्त्र को मनोविज्ञान और स्वास्थ्य-शास्त्र तक ही सीमित कर दिया गया और साहित्य विवरण-प्रधान, सामाजिक मन्तव्यमूलक तथा उपयोगितावादी बन गया।

यथार्थवाद का आधुनिक रूप

यहीं से हम यथार्थवाद का वह रूप उभरता देखते हैं जो आज इतना व्यापक बना हुआ है। फ्रांस में जिन कलावादी-सिद्धान्तों का उदय और प्रचार हुआ था, तोल्स्तोय जैसे रूसी कथाकार और विचारक उनके विरोधी थे। तोल्स्तोय सामाजिक प्रगति और संरक्षण में साहित्य की उपयोगिता के समर्थक थे। उनके अनुसार कला

का उद्देश्य जनजीवन के आध्यात्मिक उन्नयन तथा उसके द्वारा श्रेष्ठतम मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा करना ही है। ये लोग सामाजिक-यथार्थ का चित्रण तो करते थे परन्तु यह नही जानते थे कि उन मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा कैसे की जा सकती है। इसी कारण आदर्शवाद का पल्ला थाम लेते थे। मार्क्स ने सबसे पहली बार यह बताया है कि संसार को बदलना है और कैसे बदलना है। मार्क्स का यही सिद्धान्त 'मार्क्सवाद' कहलाया। अनेक विद्वानों ने मार्क्सवाद की व्याख्या करते हुए उसे एक शास्त्र का नाम प्रदान किया। इस नए शास्त्र को लोगों ने 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' की संज्ञा प्रदान की। डा० रामविलास शर्मा का इस सम्बन्ध में कहना है कि—

"वैज्ञानिक भौतिकवाद का जन्म संसार को समझने और उसे बदलने के लिए, मानव-जीवन को सुखी बनाने के लिए हुआ। इसका कारण यह था कि इतिहास मे एक नई घटना घट चुकी थी। यह घटना थी—मजदूर वर्ग का जन्म। यह वर्ग अपने जन्म से ही संसार को बदलने का स्वप्न देखने लगा था। मार्क्स ने उस स्वप्न को साकार करने के लिए वैज्ञानिक पद्धति निकाली। व्यवहार और परिवर्तन पर इस प्रकार बल देने का यह अर्थ नही है कि वैज्ञानिक भौतिकवाद चिन्तन को, बौद्धिक क्रिया को नगण्य समझता है। नहीं, बुद्धि को व्यवहार-जगत से सम्बद्ध करके वह बौद्धिक क्रिया को सार्थक करता है। वैज्ञानिक जे० डी० बर्नाल के शब्दो मे—'साव-धानी से विश्लेषण, विभिन्न तथ्यों का बिलगाव, कारणो का अनुसरण करते हुए परिणाम तक पहुँचना, प्रयोग पर निर्भर होना—इन सब बातो को मार्क्सवाद ने अपना लिया है, और इनसे उसे पुष्ट वैज्ञानिक आधार मिला है। वैज्ञानिक भौतिकवाद की चिन्तन-पद्धति अपनाने वाले लेखक तथ्य-कथन मे सन्तुष्ट नही रह सकते। तथ्य-कथन मार्क्सवाद से पहले के भौतिकवाद की विशेषता थी। मार्क्सवाद भौतिक-जगत का दृढ़ आधार स्वीकार करते हुए मनुष्य की विचारधारा, उसके भाव-जगत, सामाजिक-जीवन आदि का परस्पर सम्बन्ध और उनका विश्लेषण करता है।"

मार्क्सवाद के वैज्ञानिक भौतिकवाद ने यथार्थवादी-चिन्तन को एक निश्चित दर्शन और रूप प्रदान कर उसका लक्ष्य एक शोषणहीन समाज की स्थापना करने का बना दिया। और फिर यथार्थवाद इसी निश्चित अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा। इससे पूर्व जिस अर्थ में 'यथार्थवाद' शब्द का प्रयोग होता रहा था, वह उसके विद्रोही परन्तु निराशावादी, तथ्य-कथन परन्तु लक्ष्यहीनता आदि तक ही सीमित था। मार्क्सवाद ने उसे लक्ष्योन्मुखी बना दिया। 'आधुनिक यथार्थवाद' यही कहलाता है।

व्यक्तिवाद से विरोध

यथार्थवाद समाजवादी जीवन-दर्शन है और व्यक्तिवाद पूँजीवादी। इसलिए आरम्भ से ही इन दोनों विचारधाराओं में परस्पर संघर्ष होता रहा है। आरम्भ मे यह संघर्ष भाववाद और भौतिकवाद में होता रहा था। यह भाववाद ही आगे

चलकर 'अस्तित्ववाद' जैसे घोर व्यक्तिवादी जीवन-दर्शनों के रूप में विकसित होता रहा। मनोवादी कल्पना को, मानव-मन के रहस्यों को ही सबसे अधिक महत्त्व देते रहे हैं। उनकी मान्यता है कि वैज्ञानिक भौतिकवाद में आस्था रखने वाले लोग मनुष्य में आस्था खो बैठते हैं। उनकी दृष्टि में कला और साहित्य व्यक्ति के अहं का विस्फोट है। इसी कारण वे कला और साहित्य का समाज से अनिवार्य सम्बन्ध न मान उसे 'व्यक्ति' तक ही सीमित रखने में आस्था रखते हैं। ऐसा दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्ति सामाजिक-क्रान्ति जैसी बातों के सम्बन्ध में सोचते तक नहीं। उनकी सम्पूर्ण क्रान्ति मानव-मन के भीतर ही होती रहती है। ये लोग एक प्रकार से उल्कापातवादी भी होते हैं। इन्हें घर के भीतर बैठे-बैठे ही भूत-भविष्य-वर्तमान, सबका इल्हाम होता रहता है। ये लोग समाज से सर्वथा उदासीन रह अपने मनोगगन में ही विचरण करते रहते हैं। इसीलिए पूँजीवाद इनका समर्थक और संरक्षक बना हुआ है, क्योंकि पूँजीवाद को भय रहता है केवल सामाजिक-क्रान्ति से। सामाजिक-क्रान्ति ही पूँजीवाद के हितों पर करारी और घातक चोट करने में समर्थ होती है। मन के भीतर आप चाहे जितनी जबर्दस्त क्रान्तियाँ करते रहिए, पूँजीवाद मन्द-मन्द मुस्कराता उन्हें देखता और आनन्दित होता रहता है। क्योंकि मन के भीतर होने वाली ये क्रान्तियाँ व्यक्ति को सामाजिक-असन्तोष से दूर हटा अपने आत्मपरक रूप में उलझाए रखने का प्रयत्न करती रहती हैं। अपने इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन सदैव यथार्थ का विरोध करते आए हैं, क्योंकि यथार्थ कटु और निर्मम होता है, इसलिए उनके कोमल-मन को अच्छा नहीं लगता।

व्यक्तिवाद का घातक प्रभाव

व्यक्तिवाद केवल व्यक्ति को ही महत्त्व देता है, समाज को नहीं। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में कुछ समय तक इस व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन का काफी प्रभाव रहा था। व्यक्तिवादी कलाकार व्यक्ति-स्वातंत्र्य की दुहाई देता हुआ, अपने पात्रों के माध्यम से अपने मन की कुण्ठाओं, अतृप्त इच्छा-आकांक्षाओं की ही पूर्ति करता है। वह स्वयं को सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र समझता हुआ कहता है—"यदि मैं किसी काम को अच्छा समझता हूँ तो वह मैं ही हूँ जो उसके अच्छे-बुरे होने का निर्णय करता हूँ।" इस प्रकार वह मनुष्य को असामाजिक प्राणी मानता है, जो सामाजिक-मूल्यों को कोई महत्त्व नहीं देता। इसी कारण उसके पात्र भी इन मूल्यों को कोई महत्त्व नहीं देते। डा० रामविलास शर्मा ने इस प्रवृत्ति का विरोध करते हुए लिखा है—

'आधुनिकतावादी उपन्यासों के नायक वैज्ञानिक से अधिक मनोवैज्ञानिक होते हैं, वे कर्म-जगत से संन्यास लेकर कल्पना-जगत में चिन्तन को ही अपना मुख्य कर्म समझते हैं। पूँजीवादी समाज की नैतिकता में आस्था रखने वाले भद्र जन वैसे ही श्रम से घृणा करते हैं। इसलिए उनकी संस्कृति श्रम का बहिष्कार करती है। श्रम करना बहिष्कृत मजदूरों का काम है। उनकी सेवा के बल पर विशुद्ध चिन्तन

द्वारा निष्क्रिय 'हीरो' की रचना करना इन कलाकारों का काम है। जब 'हीरो' ही निष्क्रिय होगा, तब सामाजिक-संघर्ष के चित्रण का सवाल ही कहाँ उठेगा ? आपने सामाजिक-संघर्ष का चित्रण किया, तो सतही साहित्य रचा, यथार्थ के बाह्य रूपों में ही फँस कर रह गए, व्यक्ति के मनोजगत की गहराइयों में पैठे ही नहीं, इत्यादि। इसलिए सामाजिक-संघर्ष से पराङ्मुख परम सत्य की मनोवैज्ञानिक पैठ देखना हो तो पढ़िए 'नदी के द्वीप' या 'डॉक्टर ज़िवागो'।"

व्यक्ति और समाज : किसे प्रश्रय दिया जाये ?

प्राय. यह प्रश्न उठाया जाता रहा है कि साहित्य मे किसका चित्रण किया जाय—व्यक्ति का या समाज का, अथवा दोनों का ? व्यक्तिवादी कहते हैं कि साहित्य का मूल लक्ष्य मानव-मन के रहस्यों का ही चित्रण करना होना चाहिए; क्योंकि समाज तो हमारे सामने होने के कारण स्पष्ट है ही, फिर उसका चित्रण करने में क्या तुक है ? मानव-मन ही अत्यधिक जटिल और रहस्यमय है, इसलिए साहित्य के माध्यम से उसी की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके विपरीत समाजवादी यह कहते है कि व्यक्ति का महत्त्व और सार्थकता समाज का एक अग होने में ही है; समाज मे कटे हुए व्यक्ति का समाज के लिए कोई मूल्य नही। इसलिए व्यक्ति का चित्रण सामाजिक सन्दर्भ में ही होना चाहिए। डा० रामविलास शर्मा के अनुसार—

"व्यक्ति और समाज—इनमें किसका चित्रण करे ? वास्तव में यह प्रश्न ही गलत है। समाज से बाहर व्यक्ति का अस्तित्व नही है और व्यक्ति का चित्रण किए बिना समाज का चित्रण करना असम्भव है। कभी रूस के कुछ अराजकतावादी लेखकों ने व्यक्ति को छोड़कर जनसमूह का चित्रण करने की कोशिश की थी लेकिन शीघ्र ही यह प्रवृत्ति खत्म हो गई। व्यक्ति का चित्रण यथार्थ के विरोधी भी करते हैं। वे उसे सामाजिक-संघर्ष, समाज के वर्ग-सम्बन्धों से दूर रखकर देखते हैं। वे चेतना की गहराइयों का चित्रण करने के नाम पर उसकी मानसिक विकृतियो का चित्रण करते हैं और इन विकृतियों का कारण समाज में न देख उसके निरपेक्ष मानस मे ढूंढ़ते है। उनकी कला—विशेष रूप से असम्बद्ध मूर्तिविधान वाली कविता और रेखाओं और त्रिकोणों वाली चित्रकला—वास्तविक जगत के तारतम्य को चित्रित न करके मनगढ़न्त प्रतीकों मे ऐसा सम्बन्ध स्थापित करती है, जो बस रचयिता महोदय या उनके कुछ मित्रों को ही मालूम रहता है। इसके विपरीत यथार्थवादी कला में व्यक्ति सामाजिक सन्दर्भ में चित्रित किया जाता है; वह समाज-निरपेक्ष इकाई न होकर एक साथ व्यक्ति और टाइप दोनों होता है। जैसे, होरी पिछड़े किसान का टाइप है, साथ ही अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण जीता-जागता व्यक्ति भी है, यांत्रिक प्रतीक नहीं। और यह बिल्कुल आवश्यक नही है कि सामाजिक-संघर्ष का चित्रण करते हुए हम व्यक्ति के भावगत, उसके मानसिक-संघर्ष का चित्रण न करें। वास्तव में प्रत्येक साहित्यकार दोनों का ही चित्रण करता है

इस प्रकार यथार्थवाद समाज और व्यक्ति, दोनों का चित्रण करता है, परन्तु व्यक्ति का चित्रण समाज के सन्दर्भ में ही करने में आस्था रखता है। इस प्रकार उसके यहाँ समाज और व्यक्ति अन्योन्याश्रित बन जाते हैं।

यथार्थ और कल्पना

यथार्थवादी कलाकार यथार्थ का चित्रण करते समय कल्पना से भी काम लेता है; परन्तु उसकी कल्पना सर्वत्र-सदैव यथार्थ पर ही आधारित रहती है। वह आदर्शवादियों के समान निठल्लों के स्वर्ग की कल्पना नहीं करता, जिसमें कुछ किए-धरे बिना ही जीवन के सारे भोग-विलास अनायास ही उपलब्ध हो जाते हैं। इसके विपरीत वह इस धरती को ही ऐसा स्वर्ग बना देने की कल्पना करता है जिसमें सबको जीवन की सारी सुख-सुविधाएँ समान रूप से प्राप्त हो सकती हैं। इसके लिए वह मानव-जाति के विकास का सहारा लेता है। वह कल्पना द्वारा ऐसे पात्रों, घटनाओं आदि का सृजन करता है, जो ऐतिहासिक रूप से सत्य न होते हुए भी यथार्थ के अनुरूप होते हैं। इस सृजन में उसका यथार्थ का अनुभव, सूक्ष्म निरीक्षण, इन्द्रिय-बोध आदि सब सहायता करते हैं। उसकी यह कल्पना यथार्थ को कभी भी अपनी नज़र से ओझल नहीं होने देती। इसके विपरीत पलायनवादी संसार के यथार्थ से मुँह मोड़ सुनहले स्वप्न देखते और कल्पित पीड़ा के आँसू बहाते रहते हैं।

यथार्थ और आदर्श : क्या परस्पर विरोधी हैं?

सामान्यतः लोगों की यह धारणा रही है कि आदर्श और यथार्थ एक-दूसरे के विरोधी हैं; उनके अनुसार ये दोनों दो समानान्तर रेखाओं के समान हैं, जो एक-दूसरे से कभी नहीं मिल सकतीं। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की यही मान्यता थी। उन्होंने इसका विवेचन करते हुए लिखा था—

"कोई कलाकार या तो यथार्थवादी ही हो सकता है या आदर्शवादी हो। ये दोनों परस्पर-विरोधी विचारधाराएँ और कला-शैलियाँ है। इनका मिश्रण किसी एक रचना में सम्भव नहीं; साहित्यिक-निर्माण में यथार्थोन्मुख आदर्शवाद या आदर्शोन्मुख यथार्थवाद नाम की कोई वस्तु नहीं हो सकती। वास्तव में प्रेमचन्द जी अपने विचार और लेखन में आदर्शवादी हैं। आपका चरित्र-निर्माण और मनोवैज्ञानिक-चित्रण आदर्शवादी है। आदर्शवादी चित्रण से तात्पर्य है मानव की सद्वृत्तियों पर विश्वास रख कर साहित्य-निर्माण करना। उनकी समस्त कृतियों को देखकर ही ऐसा कह सकते हैं। इस प्रकार प्रेमचन्द के साहित्य का सांगोपांग अध्ययन करने पर उन्हें आदर्शवादी कहना उचित होगा।"

वाजपेयीजी ने अपना यह मन्तव्य प्रेमचन्द को 'आदर्शोन्मुख यथार्थवादी' कहने और मानने का विरोध करते हुए प्रकट किया था। ऐसी ही धारणा, कि, आदर्श और यथार्थ का समन्वय हो ही नहीं सकता, हंसराज रहबर ने प्रेमचन्द की आलोचना करते हुए प्रस्तुत की थी; उनके अनुसार—

"प्रेमचन्द ने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के नाम पर इन दोनों विचारधाराओं में जो समन्वय किया था, वह सर्वथा असंगत और अप्राकृतिक था। इसलिए जीवन के अन्तिम पर्व में, जब उन्हें निजी अनुभव से सत्य का बोध हुआ, तो उन्होंने स्वयं इस समझौते को तोड़ दिया। 'गोदान' उपन्यास और 'कफन' संग्रह की कहानियों मे वे आदर्शवाद को छोड़कर एकदम क्रान्तिकारी बन गए हैं।"

अर्थात् रहबरजी आदर्श और यथार्थ के समन्वय को सर्वथा असंगत और अप्राकृतिक समझते हैं।

चित्रण के दो भिन्न आयाम

ऐसी ही धारणा कुछ अन्य आलोचकों की भी रही है। वे जीवन के दो पक्ष मानते है—इन लोगो का कहना है कि आदर्शवाद जीवन के आन्तरिक-पक्ष का चित्रण करता है और यथार्थवाद बाह्य-पक्ष का। डा० प्रेमशंकर ने आदर्शवाद की व्याख्या करते हुए लिखा है—

"साहित्य का आदर्शवाद मानव-जीवन के आन्तरिक पक्ष पर जोर देता है। जीवन के दो पक्ष हैं—आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक पक्ष मे मानसिक-सुख, प्रसन्नता, परितोष, आनन्द आ जाते हैं। बाह्य-पक्ष में ऐश्वर्य, वैभव और भौतिक उन्नति का स्थान है। आदर्शवादी साहित्यकार का विश्वास है कि मनुष्य जब तक आन्तरिक सुख प्राप्त नहीं करता, उसे वास्तविक आनन्द की उपलब्धि नही हो सकती। मानव की प्रेरणा तब तक भटकती रहेगी, जब तक वह शाश्वत, चिरन्तन सत्य अथवा आनन्द नही प्राप्त कर लेता। इस प्रकार आदर्शवाद मानव-जीवन की आन्तरिक व्याख्या करता है। वह उन मानव-मूल्यों को ग्रहण करता है जो कल्याणकारी है, शुभ हैं, सर्जनात्मक हैं। भारतीय साहित्य-शास्त्र में इसकी जो महत्ता है, वह जीवन के आन्तरिक परितोष अथवा आनन्द का ही दूसरा रूप है।"

आदर्शवाद, इस प्रकार, जीवन के बाह्य-पक्ष को अधिक महत्त्व नहीं देता। भावना का सौन्दर्य और उदात्तता ही उसका उपजीव्य है। अपनी इसी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के कारण उसकी चेतना आध्यात्मिक और कभी-कभी रहस्यात्मक हो उठती है। इसके साथ ही आदर्शवाद मे आनन्द और उपदेश का समन्वय होता है। आदर्श की स्थापना कर उसका उपदेश देना ही आदर्शवाद का प्रधान लक्ष्य है।

आभिजात्य सौन्दर्य : शैली

आदर्शवाद स्वभाव से आभिजात्य-वर्गीय होता है, इसलिए सौन्दर्य-प्रेमी भी। वह जो कुछ कहता है, बड़े कलात्मक और सुन्दर ढंग से कहता है। वह कहने के ढंग और कथन को बड़ी नफासत के साथ, अलंकारों, लक्षण-व्यंजना आदि की सहायता से सुन्दर और प्रभावशाली बनाकर कहता है। इसलिए शैली-सम्बन्धी उसके इस रूप को अभिव्यंजना का आदर्श रूप माना जा सकता है। उसकी शैली भावुकताभरी और कल्पना-प्रधान होती है। वर्ण्य-विषय और शैली की दृष्टि से

आदर्शवाद के इस रूप की उपेक्षा करने का सवाल ही पैदा नहीं होता। यथार्थवादी कलाकार भी इसके इस रूप को बहुलांश में स्वीकार कर लेता है। परन्तु आदर्शवाद का विरोध वहाँ उठ खड़ा होता है, जहाँ वह यथार्थ की अवहेलना कर केवल कल्पना की ही मनोरम उड़ानें भरने लगता है। कल्पना की, आधारहीन कल्पना की अतिशयता उसके रूप को वायवी बना देती है और अपने इस रूप में वह जीवन के लिए, समाज के लिए अकारथ हो उठता है। यथार्थ पर आधारित कल्पना ही जीवन को प्रेरणा देती है। इसलिए, जब कलाकार यथार्थ का आधार त्याग अपनी नश्वर कल्पना की ही उड़ानें भरने लगता है, तभी उसका विरोध किया जाता है। ऐसा साहित्य हमारा मनोरंजन करने में भले ही समर्थ हो, जीवन की प्रेरणा नहीं बन पाता। छायावाद की मृत्यु का कारण यही था। सुन्दर होते हुए भी वह जीवन-शक्ति से शून्य और निष्प्राण बनकर रह गया था। अस्तु

आदर्श और यथार्थ : नदी के दो तट

वस्तुतः आदर्श और यथार्थ नदी के दो तटों के समान हैं, जो समानान्तर चलते हैं, कभी भी एक-दूसरे से नहीं मिलते, परन्तु उन दोनों के बीच जीवन की धारा सतत प्रवहमान रहती है। रूपक के रूप में इसे इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है-- यथार्थ जीवन का एक ऐसा तट है, जो पथरीला, ऊबड़-खाबड़ और हरियाली से शून्य है। आदर्श जीवन-रूपी नदी का दूसरा तट है, जो सुन्दर और समतल है, जिस पर सघन छाया वाले फलों से लदे अगणित वृक्ष खड़े हैं। यथार्थ वाले तट पर खड़ा, गर्मी और लू से झुलसता हुआ व्यक्ति दुःख से व्याकुल हो, सामने दिखाई दे रहे उस आदर्श वाले तट को बड़ी ललकभरी नजरों से देखता है और सोचता है कि काश उसका तट भी वैसा ही सुन्दर और शीतल होता। साहसी व्यक्ति नदी की धारा को पारकर उस तक पहुँचने का प्रयत्न करता है, और कभी-कभी पहुँच भी जाता है। यही यथार्थ से आदर्श की ओर बढ़ना कहा जायेगा। परन्तु यहाँ एक बात का ध्यान रखना होगा कि वह आदर्श वाला तट मृग-मरीचिका नहीं है, कल्पना की उपज नहीं है, बल्कि सत्य और वास्तविक है। महादेवी वर्मा ने इसी सत्य का उद्घाटन करते हुए लिखा है--

'जीवन की इसी विविधता और एकता की अभिव्यक्ति के लिए काव्य ने यथार्थ और आदर्शवाद की, रूप में भिन्न, पर प्रेरणा में एक, शैलियाँ अपनाई हैं। जीवन प्रत्यक्ष जैसा है और हमारी परिपूर्ण कल्पना में जैसा है यही हमारा यथार्थ और आदर्श है और इस रूप में तो ये दोनों जीवन से उतने ही दूर और पास हैं, जितने जल की आर्द्रता से सिक्त रहने के कारण एक और उसे मर्यादित रखने के लिए भिन्न, नदी के दो तट। उनमें से केवल एक से जीवन को घेरने का प्रयास, प्रयास ही बनकर रह सकता है, उसे सफलता की संज्ञा देना कठिन होगा। किसी भी युग में आदर्श और यथार्थ या स्वप्न और सत्य, कुरुक्षेत्र के उन दो विरोधी पक्षों में परिवर्तित

करके नहीं खड़े किए जा सकते, जिनमें से एक युद्ध की आग में जल गया और दूसरे को पश्चाताप के हिम में गल जाना पड़ा। वे एक-दूसरे के पूरक रहकर ही जीवन को पूर्णता दे सकते हैं; अतः काव्य उन्हें विरोधियों की भूमिका देकर जीवन में एक नई विषमता उत्पन्न कर सकता है, सामंजस्य नहीं। न यथार्थ का कठोरतम अनुशासन आदर्श के सूक्ष्म चित्राधार पर कालिमा फेर सकता है, और न आदर्श का पूर्णतम विधान यथार्थ को शून्य आकाश बना सकता है।''

यहाँ महादेवी वर्मा आदर्श और यथार्थ को परस्पर विरोधी न मान, एक-दूसरे का पूरक मानती हैं। और यही सत्य है। इसी कारण उन्होंने आदर्श को 'सम्भाव्य यथार्थ' कहा है। उनकी दृष्टि में—''वह यथार्थ, जिसके पास आदर्श का स्पन्दन नहीं, केवल शव है और वह आदर्श, जिसके पास यथार्थ का शरीर नहीं, प्रेत मात्र है।' इतिहास के भिन्न-भिन्न युगों में आदर्श भी भिन्न रहे हैं, क्योंकि उन आदर्शों को युग-विशेष की परिस्थितियों के अनुसार ही गढ़ा जाता रहा है। महादेवी वर्मा ने भारतीय इतिहास में पाए जाने वाले इन विभिन्न आदर्शों का रूप स्पष्ट करते हुए लिखा है—

''साधारण रूप में आदर्श से यही समझा जाता है कि वह सत्य की जय, असत्य की पराजय आदि-आदि जीवन में असम्भव, पर कल्पना में सम्भव कार्य-कारण का नाम है। इस धारणा के कारण है। सम्भाव्य यथार्थ से सम्बन्ध रखने वाले अन्तर्जगत के संस्कार हमारे बाह्य आचरण पर विशेष प्रभाव डालते रहते हैं, इसी से समय-समय पर धर्म, नीति आदि ने उन्हें अपने विकास का साधन बनाया। जिस युग का प्रधान लक्ष्य धर्म रहा, उसमें सत्य, त्याग आदि गुणों के आदर्श चरमसीमा तक पहुँच कर ही सफल हो सके। जिस युग का दृष्टिबिन्दु सामाजिक विकास था, उसमें कर्त्तव्य-सम्बन्धी आदर्श उच्चसीमा तक पहुँच गए। जिस समय संघर्ष की सफलता ही अभीष्ट रही, उस समय जय के आदर्श की उज्ज्वलता में साधनों की मलिनता भी छिप गई। जब, जो विशेषता आवश्यक नहीं रही, तब उससे सम्बन्ध रखने वाला असाधारण आदर्श, जीवन के पुरातत्त्व-विभाग की स्थायी सम्पत्ति बना दिया गया और साधारण आदर्श गौण रूप से प्रयोग में आता रहा। कुरुक्षेत्र के युद्ध में हरिश्चन्द्र की सत्यवादिता का कोई स्थान नहीं, राम के संघर्ष में बुद्ध की अहिंसा का कोई महत्त्व नहीं। युग-विशेष में उत्पन्न कवियों ने भी अपने युग के आदर्श को असाधारणता के साथ काव्य में प्रतिष्ठित किया। इतना ही नहीं, वह आदर्श कहीं भी पराजित न हो सके, इसकी ओर उन्हें सतर्क रहना पड़ा। फिर भी यह सत्य है कि वे एकांगी न हो सके।''

उपर्युक्त कथन उन लोगों की आँखें खोल देने के लिए पर्याप्त है जो आदर्श और यथार्थ को परस्पर-विरोधी और परस्पर कभी भी न मिल सकने वाली धाराएँ मानते हैं। उनकी दृष्टि एकांगी होती है। आदर्श को बौद्धिक तर्क-वितर्क और

सिद्धान्तों के घेरे में बाँध दिया जाता है और यथार्थ को अपनी पाशविक वृत्तियों की अनन्त तृष्णा तक सीमित कर दूषित बना दिया जाता है। यही एकांगी दृष्टिकोण इन दोनों को विरोधी-सा बना देता है। वास्तविकता यह है कि आदर्श की रेखाएँ कल्पना के रंगीन प्राणों में तब तक नहीं भरी जा सकतीं, जब तक उनमें जीवन का स्पन्दन न भर दिया जाय और दूसरी ओर यथार्थ की तीव्र धारा को आदर्श के कूलों का सहारा न दिया जाय। यथार्थवादी प्रत्यक्ष का सीमित शरीर देकर हमें उसके व्यापक और अप्रत्यक्ष स्पन्दन की अनुभूति देता है और आदर्शवादी व्यापक जीवन का भावन देकर हमें उसके सीमित रूपों से अवगत कराता है।

आदर्श और यथार्थ का समन्वय : स्वस्थ काव्य का जनक

इस प्रकार आदर्श और यथार्थ एक-दूसरे के विरोधी न होकर परस्पर पूरक हैं। एक के बिना दूसरा अधूरा, अतः अकारथ बनकर रह जाता है। जिस साहित्य में इन दोनों का सन्तुलित समन्वय हुआ मिलता है, वही जन-सामान्य में आदर पाता रहा है। ताजमहल जैसी अनुपम कलाकृति आज तक इसी कारण सुरक्षित है कि उसकी नींव बहुत मजबूत बनाई गई थी। यदि उसकी नींव कमजोर होती तो वह कब का भूमि में मिल चुका होता। वह नींव ही 'यथार्थ' है और उस नींव के ऊपर निर्मित भव्य-भवन ही 'आदर्श' है—प्रेम का, सौन्दर्य का। अपने एकांगी रूप में इनका कोई भी महत्त्व और अस्तित्व नहीं रहता। प्रेमचन्द ने इस समन्वय के रहस्य को समझकर ही अपने कथा-साहित्य को 'आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कथा-साहित्य' कहा था। डा० रामविलास शर्मा भी आदर्श और यथार्थ में कोई अनिवार्य विरोध न मानते हुए लिखते हैं—

"आदर्श और यथार्थ—इनमें भी अनिवार्य विरोध नहीं है। यथार्थ-चित्रण वास्तविक जगत के हमारे ज्ञान पर निर्भर होता है। यदि यह जगत गतिशील है और हमें उसकी गति की दिशा का ज्ञान है, या हम उस दिशा के महत्त्व को समझते हैं जिसकी ओर हम उसे अग्रसर करना चाहते हैं, तो यह आदर्श हमारे यथार्थवाद में निहित होगा। भारतेन्दु से लेकर प्रेमचन्द तक का हिन्दी-साहित्य स्वाधीनता और समाज-सुधार के आदर्श से अनुप्राणित रहा है, क्योंकि वास्तविक जगत की प्रतीति में पराधीनता की अनुभूति शामिल थी और इस प्रतीति के फलस्वरूप स्वाधीनता के आदर्श को प्राप्त करने की भावना भी विद्यमान थी। इसी कारण इस साहित्य में बद्ध मानवता नहीं, एक आदर्श की ओर गतिशील मानवता के आदर्श होते हैं। गोर्की से लेकर शोलोखोव तक के रूसी-साहित्य में उस मानवता का चित्रण है जिसने गृहयुद्ध में साम्राज्यवादियों के हस्तक्षेप का मुकाबला किया, गृहयुद्ध से ध्वस्त एक पिछड़े हुए देश में समाजवादी निर्माण किया, फासिस्ट आक्रमण को विफल करके फिर अपने देश का निर्माण किया और जो विकास की गति के सभी मापदण्ड पीछे छोड़ आज ———— व्यवस्था के निर्माण में लगी है।"

सम्भाव्य यथार्थ की कल्पना : मूल प्रेरक शक्ति

सुलझा हुआ कलाकार अपने सामने किसी श्रेष्ठ लक्ष्य को रखकर ही कला-सृजन में प्रवृत्त होता है। उस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए पहले वह यथार्थ का अंकन करता है। यथार्थ के उस चित्रण द्वारा वह उस समस्या के वास्तविक रूप को हमारे सामने लाकर प्रस्तुत कर देता है, जिसने उसे अपने उस लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयत्न करने की प्रेरणा प्रदान की थी। और फिर उसी के आधार पर उसका ऐसा संगत हल प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है जो व्यावहारिक और सम्भाव्य होता है। यही हल उसका आदर्श है। सम्भाव्य की उसकी यह कल्पना उसके यथार्थ से गहरे रूप से जुड़ी रहती है। जहाँ यह सम्बन्ध टूट जाता है, वहीं आदर्श लड़खड़ा उठता है। कुछ कलाकार केवल यथार्थ का ही अंकन करते हैं। वे समस्याएँ उठाते तो हैं, परन्तु उनका कोई समाधान नहीं सुझाते। यहाँ भी कलाकार का प्रत्यक्ष उद्देश्य अपने पाठकों में जागरूकता उत्पन्न करना और उसके माध्यम से समस्या का समाधान खोजने की प्रेरणा देना होता है। इसे भी उसका आदर्श ही माना जा सकता है। क्योंकि, उसके अन्तर्मन में, उस यथार्थ का चित्रण करते समय आदर्श का कोई-न-कोई रूप अवश्य रहता है, परन्तु अपनी किन्हीं सीमाओं और विवशताओं के कारण वह उस समाधान के प्रति मात्र संकेत देकर ही रह जाता है, उस समाधान के स्वरूप को स्पष्ट करने में संकोच कर जाता है। महादेवी वर्मा ने इसी कारण सम्भाव्य यथार्थ (आदर्श) के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

"कोई भी जाति अपने देशकालगत यथार्थ के निरीक्षण और परीक्षण के बिना वर्तमान का मूल्यांकन नहीं कर पाती और सम्भाव्य यथार्थ की कल्पना के बिना भविष्य की रूपरेखा निर्धारित करने में असमर्थ रहती है। यह कार्य कला के क्षेत्र में जितना सहज, सुन्दर और सम्प्रेषणीय रूप पा लेता है, उतना जीवन के अन्य क्षेत्रों में सम्भव नहीं। सच्चा कलाकार व्यावसायिक कम, पर सम्वेदनशील अधिक होता है, अतः उसकी दृष्टि यथार्थ के सम्बन्ध में सन्तुलित और आदर्श के सम्बन्ध में व्यापक रहकर ही अपने लक्ष्य तक पहुँचती है। लक्ष्य के ऊपर दृष्टि रखकर हम लक्ष्यवेध करने में समर्थ हो सकते हैं, पर उससे नीचे दृष्टि को केन्द्रित कर लक्ष्य को छू पाना भी सम्भव नहीं।" अस्तु,

यथार्थवाद-सम्बन्धी भ्रान्तियाँ

आलोचकों ने यथार्थवाद के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ फैला रखी हैं। जैसे, 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' में लिखा है कि 'यथार्थवादी लेखक वह है जो सुन्दर वस्तुओं के सम्बन्ध में लिखना पसन्द नहीं करता, वरन् गन्दी-घिनौनी चीजों का ही वर्णन करता है; वह टाइप के बदले व्यक्तियों का चित्रण करता है और यथातथ्य चित्रण में विश्वास रखता है।' विश्व-साहित्यकोश के अनुसार यथार्थवादी लेखक वह है जो वस्तुगत फोटोग्रैफिक कलाहीन चित्रण करता है और अपनी कृति में

अपने प्रभाव-चिह्नों को नहीं आने देना। यथार्थवादी-साहित्य की एक विशेषता यह भी बताई गई है कि उसमें स्थानों और व्यक्तियों का विवरण दिया जाता है, भले ही वे मूल विषय-वस्तु की दृष्टि से कितने ही तुच्छ क्यों न हों। इसके अतिरिक्त इस पर एक आरोप यह भी लगाया जाता रहा है कि इसमें समाज के कुरूप-कुत्सित चित्रण की ही प्रधानता रहती है, इसलिए वह पाठकों में निराशा, कुण्ठा और पलायन की भावना को अधिक उत्पन्न करता है। वस्तुतः ये सारे आरोप यथार्थ-चित्रण के नैतिकता-विरोधी प्रकृतवादी अतियथार्थवादी आदि नकली रूपों को देखकर ही लगाए जाते रहे हैं। इन्हें उचित और यथार्थ नहीं माना जा सकता। समाजवादी विचारधारा से प्रेरित यथार्थवाद का जो आधुनिक रूप भारत में उभरा था, उस पर इनमें से एक भी आरोप सत्य प्रमाणित नहीं होते।

समाज में कुरूप-कुत्सित की ही अधिकता रहने के कारण ही यथार्थवादी उसी का अधिक चित्रण करने के लिए मजबूर है। साथ ही सौन्दर्य के उस रूप का भी चित्रण करता है जो प्राकृतिक और स्वाभाविक है, न कि कृत्रिम और आरोपित सौन्दर्य का क्योंकि उसे उसमें से शोषण, अन्याय और अनाचार की बदबू आती है। यथार्थवादी समाज के कुरूप-कुत्सित अंश का चित्रण इसलिए करता है कि उसे पढ़ और समझकर पाठक उसके कारणों को खोज उन्हें दूर करने की उत्तेजना से आन्दोलित हो उठें। इसलिए उस पर निराशा, कुण्ठा, पलायन आदि की भावनाओं को फैलाने का आरोप लगाना सर्वथा असंगत है। वस्तुतः यथार्थवाद का मूल लक्ष्य उस सामन्तवादी-पूँजीवादी समाज-व्यवस्था के उस अनाचारी और कुत्सित-कुरूप का उद्घाटन करना रहता है जिसने समाज के एक अत्यन्त विशाल अंग को कुरूप और कुत्सित जीवन जीने के लिए बाध्य कर रखा है। ऐसा करके वह उस शोषित-दलित-पीड़ित समाज में अपने शोषकों और उत्पीड़कों के विरुद्ध विद्रोह की भावना उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है। इसीलिए कल्पनाजीवी आदर्शवादी, रूढ़िवादी और पूँजीपतियों के टुकड़खोर लोग यथार्थवाद के विरुद्ध तरह-तरह के आरोप लगा नाना प्रकार की भ्रान्तियाँ फैलाने का प्रयत्न करते रहते हैं। यथार्थवादी-चित्रण का एकमात्र उद्देश्य वर्तमान विषम समाज-व्यवस्था का उन्मूलन कर एक ऐसे विषमताविहीन समाज की स्थापना करना है जिसमें सब समान सुखी, समर्थ और प्रसन्न रह सकें।

व्यक्ति-स्वातंत्र्य का नारा

सामाजिक-यथार्थवाद के विरोधी बहुत समय से यह नारा लगाते आए हैं कि व्यक्ति या अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। अर्थात् व्यक्ति जो चाहे वह कहने और लिखने के लिए स्वतन्त्र होना चाहिए। यह माँग करने वाले लोगों का यह कहना है कि साम्यवादी देशों में व्यक्ति की इस स्वतन्त्रता पर अंकुश लगा दिया गया है, इसलिए वहाँ के लोगों का दम घुटता रहता है क्योंकि वे अपने मन की बात नहीं कह पाते। भारत में तो अभी साम्यवादी शासन नहीं है फिर भी यहाँ प्रायः यह

माँग उठाई जाती रही है। यह माँग क्यों उठाई जाती रही है, इसके वास्तविक रहस्य और उद्देश्य का उद्घाटन करते हुए आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा था—

"हम देखते हैं कि स्वातंत्र्य की नई पुकार साहित्य की सीमा में कुछ ऐसे तथ्यों को रखने के लिए की जा रही है जो अतिशय असामाजिक होने के कारण बहुजन समाज में स्वीकृत नहीं है। स्वीकृत न होने पर भी यदि वे तथ्य उपयोगी या आवश्यक प्रमाणित किए जा सकें, तो भी एक बात है। परन्तु जिस दिशा से यह स्वातंत्र्य की आवाज उठी है, वहाँ आवश्यकता और उपयोग जैसे तथ्यों का प्रश्न नहीं उठता : वहाँ तो जो कुछ चाहे उसे कहने और लिखने के स्वातंत्र्य की ही माँग है। प्रत्येक स्वातंत्र्य के साथ उतनी ही मात्रा में दायित्व की भावना रहती है। पर यह नया स्वातंत्र्य दायित्व की भावना से नितान्त अछूता है।"

डा० रामविलास शर्मा ने वाजपेयीजी के इस कथन पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—"वाजपेयीजी ने इन 'स्वाधीनता प्रेमी' लेखकों की इस असामाजिकता का उल्लेख करके उनकी अनुत्तरदायी चीख-पुकार की ओर सही संकेत किया है। इनकी स्वाधीनता उस स्वाधीनता से बहुत दूर है जिसके लिए भारतीय जनता ने संघर्ष किया है। न यह स्वाधीनता गरीबी और शोषण से मुक्त होने की कामना को पास फटकने देती है, यद्यपि यह कामना अधिकांश भारतीय जनता के हृदय में है। इस सम्प्रदाय के लेखकों की मुक्ति जनता की भावनाओं से, सामाजिक उत्तरदायित्व से मुक्त होने में है भले ही फिर अमरीका-पोषित 'कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम' का झण्डा उठाने का दायित्व ही सम्भालना पड़े।"

राजनीति और साहित्य

व्यक्ति-स्वातंत्र्य की माँग के पीछे एक कारण यह भी बताया गया था कि साहित्य का दिशा-निर्देश निश्चित राजनीतिक-सिद्धान्त अथवा राजनीतिज्ञों द्वारा नहीं होना चाहिए। अर्थात् किसी विशिष्ट राजनीतिक सिद्धान्त अथवा उस सिद्धान्त के प्रवक्ताओं से आदेश प्राप्त कर साहित्य नहीं रचा जाना चाहिए। बात भी ठीक है। क्योंकि ऐसा हो जाने पर वह साहित्य उस विशिष्ट राजनीतिक विचारधारा का साहित्यिक-भाष्य मात्र बनकर रह जायेगा। ऐसा साहित्य नीरस और प्रचारात्मक मात्र होता है। साहित्य भी प्रचार और उपदेश देने का माध्यम होता है। परन्तु वह न तो गुरु के समान उच्चासन पर बैठ उपदेश देता है और न सिद्धान्तवादियों के समान सिद्धान्तों का स्पष्ट रूप से प्रचार ही करता है। उसका तरीका 'कान्ता सम्मित उपदेश' का रहता है। साहित्य अपनी आकर्षक मनोरम शैली और भाषा द्वारा आत्मीय जन के समान पाठकों के भावों-विचारों को सहलाता-उत्तेजित करता अमृतसनी-सी मधुर वाणी में अत्यन्त स्नेह के साथ यह समझाता है कि उन्हें ऐसा करना चाहिए और ऐसा नहीं करना चाहिए। इसीलिए उपदेशकों और राजनीतिक-प्रचारकों की अपेक्षा साहित्यिक-वाणी का प्रभाव अधिक व्यापक, गहरा और स्थायी रहता है। इसी कारण

साहित्य को राजनीतिक-सिद्धान्तों के नग्न प्रचार से बचना चाहिए। बात चाहे वह कही जाय परन्तु वह स्नेहसनी वाणी के माध्यम से।

साहित्य से राजनीति का बहिष्कार नहीं किया जा सकता। क्योंकि शासन का मूलाधार राजनीति होती है और शासन का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव हमारे जीवन और समाज-व्यवस्था को प्रभावित करता है। साहित्य में, यथार्थवादी-साहित्य में, हमारे जीवन और समाज का ही चित्रण किया जाता है। दूषित राजनीति द्वारा संचालित शासन-तंत्र समाज में अन्याय-अनाचार, शोषण-उत्पीड़न को जन्म देता है। जब साहित्य में इस विषम स्थिति का चित्रण किया जाता है, तो उस शासन-तंत्र के विरुद्ध असन्तोष और विद्रोह की भावना जन्म लेती है। साथ ही किसी अन्य उदात्त, समतावादी राजनीतिक सिद्धान्त और व्यवस्था के प्रति आकर्षण बढ़ता है। साहित्य उसी के प्रति संकेत कर उस आकर्षण को एक सम्भाव्य यथार्थ के रूप में प्रस्तुत कर उसे और अधिक बढ़ावा देता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि साहित्य का सृजन मात्र इस राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही किया जाय। डा० रामविलास शर्मा ने इस समस्या पर विचार करते हुए लिखा है—

"न तो यह कहना सही है कि साहित्य राजनीति से स्वतंत्र है—प्रेमचन्द ने अपने व्यवहार से सिद्ध कर दिया है कि साहित्य देश के राजनीतिक उत्थान का साधन बन सकता है—न यह कहना सही है कि सभी साहित्य को राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही लिखा जाना चाहिए। इस तरह तो उस तमाम साहित्य का लिखा जाना बन्द करना होगा जिसका सम्बन्ध राजनीति से नहीं है। यहाँ दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। पहली बात साहित्य के रूपों से सम्बन्धित है। उपन्यास मे जिस तरह विभिन्न पात्रों और घटनाओ द्वारा सामाजिक संघर्ष या प्रगति का चित्रण किया जाता है, उस तरह गीतों और मुक्तको में नही किया जा सकता। इसी तरह व्यंग्यपूर्ण नाटकों और कविताओ मे समाज की खामियों का चित्रण होगा और उसे गलत न कहा जा सकेगा, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि हास्यरस की कविता या नाटक में मानव के उदात्त गुणों का भी चित्रण हो। साहित्य का रूप विषय-वस्तु की सीमाएँ निश्चित करता है। इसलिए हर तरह के साहित्य में एक सी विषय-वस्तु की माँग न करनी चाहिए।

'दूसरी बात है साहित्य के प्रभाव से सम्बन्धित। साहित्य तत्कालीन सामाजिक-जीवन मे भाग लेने, उसकी समस्याएँ हल करने आदि की प्रेरणा देता है; साथ ही उसका व्यापक प्रभाव मनुष्य के संस्कारों के निर्माण में देखा जा सकता है। देश के स्वाधीन हो जाने पर भी प्रेमचन्द का महत्व कम नही हुआ। गोर्की के बाद रूस के मजदूरों की दशा में आमूल परिवर्तन हुआ है, फिर भी उसका उपन्यास 'माँ' आज भी चाव से पढ़ा जाता है। इसका कारण यह है कि प्रेमचन्द और गोर्की हमारे संस्कारों को प्रभावित करते हैं। साहित्य के इस व्यापक प्रभाव को भुला देना उतना ही भ्रामक है जितना यह माँग करना कि साहित्य को राजनीति से दूर रखा जाय "

यह बात तो सही है, परन्तु विरोध वहाँ उठ खड़ा होता है जहाँ राजनीतिज्ञ साहित्यकारों को यह निर्देश देने लगते है कि उन्हें ऐसा लिखना चाहिए और ऐसा नही लिखना चाहिए। साहित्यकार अधिक जागरूक, सम्वेदनशील, सूक्ष्मद्रष्टा और सबका कल्याण चाहने वाला होता है। सच्चा साहित्यकार कभी भी किसी सिद्धान्त या विचार-धारा से बँधकर लिखने नही बैठता। उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह जीवन को उन्नत और सुखी-सम्पन्न बनाने का मार्ग सुझाए। इसके लिए वह अपने विवेक का, नीर-क्षीर-विवेक का सहारा लेता हुआ उस मार्ग को सुझाने का प्रयत्न करता है। तुलसी के 'राम-राज्य' की कल्पना ने ही गांधी को भारत मे राम-राज्य की स्थापना करने की प्रेरणा दी थी। प्रेमचन्द ने अपने युग का एक सवाक-सा चित्रपट प्रस्तुत करते हुए सामाजिक विषमता के कारणों का उद्घाटन कर यह संकेत दिया था कि इस समाज-व्यवस्था को बदलना होगा। न तुलसी साम्यवादी थे और न प्रेमचन्द। परन्तु स्वप्न दोनों ने ही साम्यवादी समाज-व्यवस्था का देखा था। इसे उनका राजनीतिक उद्देश्य माना जा सकता है। उनके साहित्य की मूल चेतना भी इसी उद्देश्य से परिचालित प्रतीत होती है। परन्तु उन्होने राजनीति को उसके स्थूल रूप में, अपने साहित्य मे स्थान नही दिया है। इसी को कहते हैं—साहित्य के माध्यम से जनकल्याणकारी राजनीति को, एक अन्तर्धारा के रूप मे घुला-मिलाकर प्रस्तुत कर देने की कला। शर्त केवल यही है कि साहित्य राजनीतिक नारेबाजी का माध्यम न बन जाय। साहित्य को, राजनीति के अतिरिक्त भी, मानव के सारे पक्षों को, उसके सौन्दर्यबोध, इन्द्रियबोध आदि सबको अंकित करना होता है। इन्ही सबके अंकन से जीवन का पूरा रूप उभर पाता है। और इसी सम्पूर्ण जीवन के अंकन की मूल चेतना जन-मात्र की कल्याण-आकांक्षिणी होती है।

आधुनिक यथार्थवाद यही है। वह सम्पूर्ण समाज का, सारे सामाजिक जीवन का, उसके शुभाशुभ रूपों का, उसकी समस्याओं और विषमताओं का यथार्थ रूप अंकित कर हमारे सामने समाज का सारा कच्चा चिट्ठा खोलकर रख देता है। और फिर उस सम्भाव्य यथार्थ के प्रति संकेत करता है जिसे प्राप्त कर लेने पर जीवन का सारा दुख-दारिद्रय मिट जायेगा। इस धरती की उपेक्षा कर स्वर्ग की चर्चा करना यथार्थवाद नहीं है। इस धरती पर ही स्वर्ग के सुख का आह्वान करना ही सच्चा यथार्थवाद है।

६

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में यथार्थ

- प्रेमचन्द : सामाजिक-यथार्थ के पोषक प्रेमचन्दी-आदर्शवाद की असफलता के कारण
- कथा-साहित्य के बदलते आयाम
- मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी उपन्यास : एक प्रश्न
- मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की परम्परा, विश्लेषण
- नग्नवाद का घातक प्रभाव
- सामाजिक यथार्थवादी उपन्यास, सामाजिक उपन्यासों के दो वर्ग
- यथार्थपरक समाजवादी उपन्यासकार
- अन्य उपन्यासकार, यथार्थ के चितेरे उपन्यासकार
- यथार्थ-चित्रण और आंचलिक उपन्यास
- निष्कर्ष

प्रेमचन्द : सामाजिक यथार्थ के पोषक

हिन्दी-कथा-साहित्य में यथार्थवाद का पूर्ण रूप में प्रवेश प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में हुआ माना जाता है। यद्यपि हिन्दी-साहित्य में सामाजिक यथार्थ-चित्रण का आरम्भ भारतेन्दु-युग में ही हो गया था, फिर भी उसका रूप अस्पष्ट और धूमिल ही रहा था। प्रेमचन्द ने ही अपने कथा-साहित्य द्वारा उसके रूप को स्पष्ट, सशक्त और प्रभावशाली बनाया था। प्रेमचन्द सामाजिक-यथार्थवाद के पोषक थे, और सैद्धान्तिक-स्तर पर सामाजिक-यथार्थवाद का प्रतिनिधित्व सर्वप्रथम उनके 'गोदान' द्वारा हुआ था। प्रेमचन्द व्यक्ति को एक सामाजिक-इकाई मान कर चले थे और इसी धारणा को आधार बनाकर उन्होंने 'सेवा सदन' से आरम्भ कर 'गोदान' तक यथार्थ-चित्रण के विभिन्न प्रयोग किए थे। उनके आरम्भिक उपन्यासों में यथार्थ की पृष्ठभूमि पर आदर्श की स्थापना करने का प्रयत्न मिलता है। उनका आदर्श यही था कि संसार से अन्याय, अत्याचार, शोषण, पाखण्ड, दुराचार, असमानता आदि

सामाजिक विकृतियों का उन्मूलन होकर एक ऐसे मानव-समाज की स्थापना हो जिसमें सब सुखी और समान हों। इसके लिए उन्होंने यथार्थ का चित्रण कर पहले यथार्थ स्थिति की विषमता का चित्रण किया, और फिर अपनी आदर्शवादी कल्पना के अनुसार, अपनी आरम्भिक कृतियों में आश्रमों, आदर्श ग्रामों आदि की स्थापना कर उन विषमताओं को दूर करने का रास्ता सुझाया। 'सेवा सदन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि' आदि उपन्यासों में उनका हल या समाधान क्रमशः व्यापक रूप धारण करता चला गया। अपनी, 'गोदान' से पूर्व लिखी प्रत्येक कृति में, उन्होंने सदैव एक नया हल प्रस्तुत किया और फिर उससे सन्तुष्ट न होकर उससे बाद की रचना में पहले से अधिक व्यापक और अधिक व्यावहारिक हल प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया।

'सेवासदन' के नारी-आश्रम से आगे बढ़कर 'प्रेमाश्रम' में आदर्श ग्राम की स्थापना की गई और फिर 'कर्मभूमि' में उस आदर्श ग्राम ने आदर्श म्युनिसपैलिटी (नगरपालिका) का रूप ग्रहण करने की चेष्टा की। 'रंगभूमि' में उन्होंने असहयोग-सत्याग्रह का प्रयोग किया और उसकी असफलता को दिखाया। यथार्थवाद पर आधारित और प्रेरित अपनी सामाजिक-चेतना के इन विभिन्न सोपानों में प्रेमचन्द सामाजिक-विषमता का मूल कारण खोजने का प्रयत्न करते रहे और आगे बढ़ने पर अपने इन काल्पनिक-आदर्शवादी साधनों की निस्सारता उनके सम्मुख क्रमशः स्पष्ट होती चली गई। अन्त में, 'गोदान' तक आते-आते उन्हें यह विश्वास हो गया कि हमारी सामाजिक विषमता का मूल कारण समाज में अर्थ का असमान विभाजन होना ही है। समाज की सारी विकृतियाँ इसी असमान आर्थिक-विभाजन के कारण ही उत्पन्न होती है। इसलिए इस विषमता का निराकरण करने से ही ये सारी विकृतियाँ दूर की जा सकती है। अतः इसे दूर करने के लिए सामाजिक-व्यवस्था का नए सिरे से पुनर्गठन करना होगा। उनका 'गोदान' इसी परिवर्तन के प्रयत्न की उद्घोषणा करने वाला उपन्यास है। 'गोदान' में ही प्रेमचन्द शुद्ध यथार्थवादी बन सके है।

प्रेमचन्दी-आदर्शवाद की असफलता के कारण

प्रेमचन्द का आरम्भिक आदर्शवाद इसलिए सफलता नहीं पा सका, क्योंकि आदर्शवादी कलाकार दरिद्रता, चारित्रिक पतन, अत्याचार आदि के लिए आर्थिक और सामाजिक-व्यवस्था को ही पूरी तरह से दोषी न ठहरा कर व्यक्ति को ही दोषी मानता है। इसीलिए वह समाज-व्यवस्था में पूर्ण परिवर्तन न चाहकर व्यक्ति के स्वभाव और चरित्र में परिवर्तन लाना चाहता है। गांधीजी ने इसी विश्वास के आधार पर अपने प्रसिद्ध 'हृदय-परिवर्तन' वाले सिद्धान्त का प्रयोग किया था, जिसमे उन्हें असफलता मिली थी। इस 'हृदय-परिवर्तन' वाले सिद्धान्त मे आस्था रखने वाले लोग मनुष्य को क्रान्तिकारी न बना सुधारवादी बनाने के लिए ही अधिक प्रयत्नशील रहते है। इसके विपरीत यथार्थवादी चिन्तक और कलाकार सामाजिक-विषमता के लिए व्यक्ति को दोषी न ठहरा कर सारी सामाजिक-व्यवस्था को ही जिम्मेदार मान उसे

बदलना चाहता है। इसलिए आदर्शवादी और यथार्थवादी दृष्टिकोणों में मौलिक विरोध रहता है। प्रेमचन्द अपनी आरम्भिक कृतियों में व्यक्ति के सुधार पर बल देते आए थे यद्यपि समाज के सामूहिक प्रयत्नों की शक्ति को उन्होंने नज़रन्दाज नहीं किया था। इसीलिए उन्होंने अपने इस प्रयत्न को 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की संज्ञा प्रदान की थी।

परन्तु जैसा कि हम पीछे कह आए हैं कि इन दोनों दृष्टिकोणों में मौलिक विरोध है इसलिए प्रेमचन्द का इन दोनों में समझौता कराने का प्रयत्न सर्वथा असफल, अस्वाभाविक और अव्यावहारिक था। और इस सत्य का ज्ञान उन्हें एक लम्बे अनुभव के बाद उस समय हुआ जब वे 'गोदान' की रचना कर रहे थे। इसलिए उन्होंने 'गोदान' में इस आदर्शवादी समझौते का मोह त्याग सामाजिक-यथार्थवाद का आश्रय लिया। और हमारे सामने सम्पूर्ण विषमताभरी सामाजिक-व्यवस्था का कच्चा चिट्ठा खोलकर रखते हुए यह सन्देश दिया कि जिस सामाजिक-व्यवस्था में होरी जैसे परिश्रमी भले और कर्मठ व्यक्ति को भूखा मर जाना पड़े, उसे अवश्य बदलना ही होगा। 'गोदान' के इसी विशिष्ट सन्देश को लक्ष्यकर उसे हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास घोषित किया गया था। प्रेमचन्द अपने इसी उपन्यास में अपने श्रेष्ठतम रूप में हमारे सामने आ सके थे।

प्रेमचन्द ने अपनी कृतियों में जहाँ-जहाँ भी आदर्श और यथार्थ का मिश्रण-समन्वय करने का प्रयत्न किया है, वहीं उनकी कला हल्की-सी धूमिल हो उठी है, मनोविज्ञान उनका साथ छोड़ गया है और उनके आदर्श पात्र पाठक की श्रद्धा को पूर्ण रूप से पाने में असफल रहे हैं। 'गोदान' और 'कफ़न' जैसी कृतियाँ आदर्शवाद के मोह से मुक्त रहने के कारण ही यथार्थवादी-साहित्य की अत्यन्त श्रेष्ठ और कालजयी रचनाएँ मानी जाती हैं। यदि प्रेमचन्द और पहले इस मोह से छुटकारा पा सके होते, तो ऐसी ही अनेक कृतियाँ देने में सफल रहते। अस्तु,

कथा-साहित्य के बदलते आयाम

प्रेमचन्द यथार्थवाद का बिगुल बजा चुके थे। उनके निधन के कुछ समय बाद ही द्वितीय विश्व-युद्ध की भयानक विभीषिका सम्पूर्ण विश्व को आतंकित करती सामने आ खड़ी हुई। पुराने मूल्य टूटने लगे, नई-नई समस्याएँ उभरने लगीं। इन नई समस्याओं के सामने आने से हिन्दी-साहित्य ने भी करवट बदली। उसमें नई विचारधाराओं और नए कला-सिद्धान्तों का समन्वय हुआ, जो यथार्थवाद का ही अधिक विस्तृत बहुमुखी नया बिखरा हुआ सा रूप था। यह रूप काफी हद तक प्रेमचन्द-युगीन सामाजिक-यथार्थवाद की परम्परा से भिन्न था। प्रेमचन्द व्यक्ति को एक सामाजिक-इकाई मानकर चले थे, परन्तु यूरोप से आयातित कुछ नवीन कला-सिद्धान्तों का अनुसरण करने वाले कलाकारों ने व्यक्ति को एक सामाजिक-इकाई न मानकर स्वयं में एक इकाई माना। इस सिद्धान्त के अनुयायी मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी

कहलाए। ये लोग व्यक्ति को स्वयं में एक इकाई मान कर चले और उनका 'व्यक्ति' समाज से दूर होता चला गया। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी कलाकार सामने आए, जो सामाजिक-यथार्थवाद की परम्परा को एक नए उन्मेष और नई कला के साथ आगे बढ़ाने में जुटे रहे। इस प्रकार हम हिन्दी के प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास-साहित्य को मोटे रूप में दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी, तथा (२) सामाजिक यथार्थवादी। हिन्दी-उपन्यास इन दो धाराओं में बँटकर आगे विकास करता रहा।

मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी उपन्यास : एक प्रश्न

प्रेमचन्द के सामाजिक-यथार्थवाद की परम्परा का सबसे प्रबल प्रतिद्वन्द्वी मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद रहा। इस धारा के उपन्यासकार विशुद्ध व्यक्तिवादी थे और फ्रायड के मनोविश्लेषण-सिद्धान्त का अनुगमन करते हुए व्यक्ति के मन की ऊहापोह और कुण्ठाओं का चित्रण करना ही कलाकार का एकमात्र दायित्व मानते थे। हमने सहूलियत के लिए ही इन्हें यथार्थवादी कहा है। डा० रामविलास शर्मा इन्हें यथार्थवादी नहीं मानते। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि—

"यथार्थवाद से सम्बन्धित एक समस्या उसके रूपों की है। कुछ विद्वान व्यक्तिवादी साहित्य को भी यथार्थवाद के अन्तर्गत लेते है। उनके विचार से, फ्रायड के मनोविज्ञान से प्रभावित साहित्य भी यथार्थवाद का एक रूप है। वे बहुत ही आत्मगत, निराशावादी, पतनशील भावनाओं के चित्रण को भी यथार्थवाद का नाम देते हैं। ऐसा हो तो साहित्य मे कुछ भी यथार्थवाद के बाहर न हो। व्यक्ति और समाज के सही सम्बन्धों को भुलाकर, समाज से विच्छिन्न, अकेले स्वप्नों का संसार बसाने वालो को यथार्थवादी नहीं कहा जा सकता। कारण यह कि काल्पनिक जगत का यथार्थ के मसार से कोई सम्बन्ध नही है।

"इसका यह अर्थ नही है कि यथार्थवादी-साहित्य में केवल मनुष्य के आर्थिक सम्बन्धो अथवा उसके राजनीतिक संघर्षों का ही चित्रण होना चाहिए। मनुष्य के भाव, विचार और इन्द्रिय-बोध भी यथार्थ जगत के अंग हैं। इन्हे छोड़कर साहित्य रचना असम्भव है। किन्तु सभी भाव या विचार यथार्थ नहीं होते। पिछले सत्तर-अस्सी वर्षों में राजभक्ति (अंग्रेजभक्ति) और देशभक्ति के भावों और विचारों मे संघर्ष चला था। अस्तित्व दोनों का था परन्तु राजभक्ति का कोई भविष्य न था। इतिहास ने उसकी मौत का परवाना लिख दिया था। इसके विपरीत देशभक्ति के विचार और भाव विकासमान थे। इसी प्रकार नायिकाओं का नखशिख-वर्णन किसी समय यथार्थ जीवन का चित्रण मालूम होता था, किन्तु अब उसका अधिकांश दरबारी कवियों का कृत्रिम कल्पनाविलास मात्र मालूम होता है। इस प्रकार कल्पना, एक पलायनवादियो का स्वप्नलोक रचने वाली कल्पना होती है, दूसरी अतीत और वर्तमान के अनुभवो के

आधार पर भविष्य की कल्पना होती है। मनुष्य के व्यवहार से कल्पना का घनिष्ठ सम्बन्ध है। व्यवहार से दूर जाकर कल्पना निर्जीव हो जाती है। इसलिए किसी काल-विशेष में जिसका अस्तित्व हो, उसी को यथार्थ मानना आवश्यक नहीं है। यथार्थ वही है जो ऐतिहासिक रूप से विकासमान हो।"

डा० रामविलास शर्मा के उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर तो ऐसे उपन्यासों को यथार्थवादी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इनमें यथार्थ के नाम पर कल्पना का ही आधिक्य रहता है। फिर भी ऐसे उपन्यास लिखने वाले यह दावा करते रहे हैं कि वे मानव-मन के यथार्थ का ही चित्रण करते आए हैं। इसीलिए कुछ आलोचकों ने इन्हें 'मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी उपन्यास' की संज्ञा प्रदान की थी।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की परम्परा

हिन्दी में फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र को आधार बना मनोविश्लेषणवादी उपन्यास प्रेमचन्द के युग में ही लिखे जाने आरम्भ हो गए थे। सन् १९२९ के लगभग हिन्दी में इस प्रकार के उपन्यास पहली बार सामने आए। इनमें फ्रायड के कुण्ठावाद के आधार पर मानव-मन की दमित वासनाओं, कुण्ठाओं, काम-भावना आदि का कलापूर्ण और प्रभावशाली चित्रण किया गया। काम, अहं, दम्भ, हीनता-भाव आदि की ग्रन्थियों के सन्दर्भ में ही पात्रों का चित्रण होने के कारण ये उपन्यास व्यक्ति के सीमित-सकुचित क्षेत्र तक ही सीमित होकर रह गए, विशाल-व्यापक समाज इनमें उपेक्षित ही बना रहा। इलाचन्द्र जोशी और जैनेन्द्र, इस युग में इसी प्रकार के उपन्यास लिखते रहे थे। जैनेन्द्र इस युग के उपरान्त भी लगभग इसी पद्धति के उपन्यास लिखते रहे हैं परन्तु इलाचन्द्र जोशी आगे चलकर आदर्शपरक यथार्थवादी बन गए। प्रेमचन्द के उपरान्त इस मनोविश्लेषणवादी-परम्परा का पर्याप्त विकास हुआ, अनेक नए-नए उपन्यास लिखे जाते रहे। अज्ञेय ने इस शैली के कुछ उपन्यास लिखकर मनोविश्लेषणवादी उपन्यासों को एक नई दीप्ति प्रदान की।

मनोविश्लेषणवादी उपन्यास होते तो व्यक्तिवादी ही हैं, क्योंकि इनमें समाज की अपेक्षा व्यक्ति को ही महत्त्व प्रदान किया जाता है। इनमें व्यक्ति के मन का विश्लेषण प्रधान रहता है इसलिए इन्हें मनोविश्लेषण-प्रधान भी कहा जाता है। परन्तु व्यक्तिवादी और मनोविश्लेषणवादी उपन्यासों में थोड़ा-सा अन्तर रहता है। व्यक्तिवादी उपन्यासकार व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन को अपना कर चलते हैं। ये मूलतः अहंवादी होते हैं। ये सामाजिक परिवेश में व्यक्ति के अहं तथा उसकी अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं को ही प्रधानता देते हुए सामाजिक मान्यताओं का विरोध करते हैं। परन्तु इनका 'व्यक्ति' सामाजिक परिवेश को बदल नहीं पाता और टूट जाता है। इसलिए ये निराशावादी भाग्यवादी होते हैं। भगवतीचरण वर्मा हिन्दी के ऐसे ही उपन्यासकार रहे हैं, जो व्यक्ति-यथार्थ का चित्रण करने की बात कहते हैं। समष्टि रूप से मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकार विशुद्ध मनोविश्लेषण-शास्त्र का आधार ग्रहण कर मानव मन की वैयक्तिक कुण्ठाओं का ही चित्रण करने में व्यस्त रहते हैं। ये

काम-भावना को मानव-मन की सर्वाधिक प्रबल भावना मान, उसके दमन के कारण उत्पन्न हुई कुण्ठाओं में और उनकी कल्पना-पूर्ति के चित्रण को ही अपना एकमात्र साध्य मानते हैं। हिन्दी के ऐसे उपन्यासकारों में जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय सर्वप्रमुख हैं।

जैनेन्द्र 'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी' आदि उपन्यासों की रचना कर मनोविश्लेषणवादी उपन्यासों की परम्परा प्रेमचन्द-युग के उत्तरार्द्ध में ही डाल चुके थे। उस युग के उपरान्त उन्होंने 'सुखदा', 'विवर्त', 'व्यतीत', 'जयवर्द्धन' आदि नए उपन्यास लिखकर इस परम्परा को आगे बढ़ाया। इनमें युग-जीवन की किसी व्यापक, ज्वलन्त समस्या या समस्याओं को न उठाकर, व्यक्ति के विशुद्ध वैयक्तिक अन्तर्विरोधों के संघर्ष को ही चित्रित किया गया है। इसलिए न तो इनके पात्र गरिमामय बन सके हैं और न युग-जीवन को प्रभावित करने की सामर्थ्य ही रखते हैं। इलाचन्द्र जोशी 'लज्जा' नामक उपन्यास लिखकर विशुद्ध मनोविश्लेषणवादी उपन्यास-लेखन की परम्परा पहले ही डाल चुके थे। उन्होंने इस युग में 'संन्यासी', 'घृणामयी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत की छाया', 'मुक्तिपथ', 'निर्वासित', 'जिप्सी', 'सुबह के भूले', 'जहाज का पंछी', 'ऋतुचक्र', 'भूत का भविष्य' आदि उपन्यास लिखकर उसी परम्परा को आगे बढ़ाया। उपर्युक्त अन्तिम तीन उपन्यासों को छोड़कर उनके अन्य सभी उपन्यास मनोविश्लेषणात्मक ही रहे हैं। 'जहाज के पंछी' में उन्होंने सामाजिक यथार्थवाद का सुन्दर चित्रण करने का प्रयत्न किया है। इसमें मानसिक कुण्ठावाद का कम प्रभाव रहा है। अज्ञेय अपने 'शेखर : एक जीवनी' उपन्यास के साथ, द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान इस क्षेत्र में आए थे। उनके 'नदी के द्वीप', 'अपने-अपने अजनबी' आदि उपन्यास इसी परम्परा के उपन्यास हैं। इनके उपन्यासों के पात्र समाज से कटकर अपनी एक निराली दुनियाँ में ही रहते हैं, जिसमें अपनी दमित और अतृप्त काम-लालसाओं की तृप्ति ही उनके जीवन का एकान्त लक्ष्य रहता है। इनके पात्र सामान्य न होकर असामान्य रहे हैं। यौन-तृप्ति को ही वे जीवन की सार्थकता समझते हैं। परन्तु इन उपन्यासों की अपनी एक विशिष्ट उपलब्धि रही है। और वह है, उनका कलापूर्ण शिल्प और गद्य का एक सर्वथा नया, रोचक और प्रभावशाली रूप। ये उपन्यास हिन्दी के उपन्यासों के परम्परागत शिल्प से नितान्त भिन्न रूप में रचे गए हैं, इसलिए अधिक चर्चित रहे हैं।

विश्लेषण

इन उपन्यासों को हमने यथार्थवादी केवल इसलिए माना है कि इनके लेखकों का यह दावा रहा है कि इनमें उन्होंने मानव-मन के भावों-विचारों का यथार्थ चित्रण किया है। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि इनमें उस यथार्थ को कल्पना से अधिक आवेष्टित कर दिया गया है। समष्टि रूप से, मनोविश्लेषणशास्त्र और अन्तश्चेतनावाद के सूक्ष्म सिद्धान्तों के चित्रण के कारण इन कारों के उपन्यासों में एक

नवीनता और मौलिकता दिखाई पड़ी, जिसने हिन्दी-पाठकों को अपनी ओर आकर्षित किया। नवीन शिल्प-विधान के कारण भी ये उपन्यास कुछ समय तक काफी लोकप्रियता अर्जित करने में सफल रहे। परन्तु समाज से कटे हुए 'व्यक्ति' के एकाकी चित्रण की ही प्रधानता रहने के कारण ये 'व्यक्ति' के सामाजिक रूप को चित्रित करने में असमर्थ रहे। जीवन के बहुमुखी तथा विविध छटामय विभिन्न पक्षों के चित्रण का इनमें पूर्ण अभाव रहा। इनकी दृष्टि मानस-जगत की जटिलताओं तक ही सीमित होकर रह गई। प्रेमचन्द के पश्चात् और आजादी प्राप्त करने के समय तक हमारा कथा-साहित्य दशकों में एक प्रकार के मनोवैज्ञानिक कुहासे से आच्छादित रहा, जिसने हिन्दी के अनेक नए कलाकारों को, जो प्रतिभाशाली भी थे, अपनी नवीनता से प्रभावित कर काफी समय तक पथभ्रष्ट-सा बनाए रखा। समाज की अवहेलना और व्यक्ति की प्रधानता रहने के कारण ये उपन्यास एक विशिष्ट पाठक-वर्ग तक ही सीमित होकर रह गए, सामान्य पाठक तक अपनी पहुँच न पहुँचा सके।

अतः प्रेमचन्द के बाद और आजादी के पूर्व के लगभग दस वर्ष, हिन्दी कथा-साहित्य के इतिहास में मानसिक कुण्ठावाद और मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद से प्रभावित ही माने जायेंगे। शुद्ध कला की दृष्टि से इन रचनाओं को सुन्दर माना जा सकता है परन्तु जैसे गुड़िया का निर्जीव सौन्दर्य अपना कोई स्थायी प्रभाव डालने में असमर्थ रहता है, उसी प्रकार इन उपन्यासों ने सामाजिक प्रगति में अपनी कोई स्वस्थ भूमिका न निभा केवल विकृति को ही बढ़ावा दिया। और उसका फल 'प्रयोगवाद' के जन-विरोधी, असामाजिक तथा प्रतिक्रियावादी रूप में हमारे सामने आया।

इस मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद का सबसे बुरा प्रभाव नारी के चित्रण में दिखाई देता है। नई सामाजिक समस्याओं के साथ 'पथ की दावेदार' नई नारी का रूप उभरा। 'घर और बाहर' की समस्या के साथ देश-प्रेम आदि भी उभर कर आया। परन्तु इन मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों ने नारी की अन्य सामाजिक समस्याओं को गौण बनाकर 'स्वच्छन्द प्रेम' की समस्या को ही मूल प्रश्न बना डाला। और इसका परिणाम यह निकला कि इनके नारी-पात्र अपनी यौन-मर्यादा का महत्त्व खोकर 'सर्वभोग्या' का रूप धारण करने लगे। इनकी नायिकाएँ व्यक्तित्वहीन, चेतनाशून्य और पुरुष मात्र के सम्मुख या विशिष्ट पुरुष-पात्रों के सान्निध्य में आने पर आत्म-समर्पण करने में ही व्यस्त रहने लगीं। और उनके चारों ओर मँडराते हुए पुरुष-समाज ने उनकी इस यौन-शिथिलता को स्वाभाविक रूप से ग्रहण कर लिया। यदि 'फ्री मिक्सिंग' या उन्मुक्त-भोग की इस भावना के पीछे रूढ़िवादी सामाजिक-बन्धनों को छिन्न-भिन्न कर तोड़ डालने की भावना होती, तो इस प्रवृत्ति को अधिक घातक नहीं माना जा सकता था; परन्तु हुआ यह कि ये उपन्यासकार नर-नारी के इन यौन-सम्बन्धों का वर्णन रस ले-लेकर करने लगे और उनकी इस रसमग्नता में मूल समस्या तिरोहित हो गई। जैनेन्द्र और अज्ञेय के लगभग सभी उपन्यासों में यही प्रवृत्ति मिलती है। साहित्य में इसे 'नग्नवाद' कहकर पुकारा जाता है।

नग्नवाद का घातक प्रभाव

इस फ्रायडवाद से उद्भूत नग्नवाद का प्रभाव इतना व्यापक और घातक रहा कि इसने यशपाल जैसे सामाजिक-यथार्थवादी उपन्यासकार को भी अपनी लपेट में ले लिया। यशपाल ने मार्क्सवाद से प्रभावित अपने आरम्भिक कथा-साहित्य में नारी को उस रूमाल के समान चित्रित किया जिससे चाहे जितने पुरुष अपना मुँह पोछ सकते है। यदि नारी का मन पवित्र है, तो वह अनेक पुरुषों से लैंगिक सम्बन्ध रखती हुई भी पवित्र रह सकती है। यशपाल के 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही' आदि उपन्यासों में पृष्ठभूमि यथार्थ पर आधारित रहते हुए भी स्वच्छन्द-प्रेम के विकृत चित्रण उन्हें सामाजिक-यथार्थवाद की कोटि से नीचे गिरा देते है। यशपाल उन मार्क्सवादी कथाकारों में माने जाते हैं, जिनका रूसी-राज्यक्रान्ति के बाद रूसी कथा-साहित्य में प्रावल्य रहा था और जिनके यौन-चित्रणों से क्षुब्ध होकर लेनिन को मार्क्सवाद और फ्रायडवाद के अन्तर को समझाना पड़ा था। यशपाल के अतिरिक्त उपेन्द्रनाथ अश्क, अंचल, धर्मवीर भारती, डा० देवराज आदि के उपन्यासों में भी इस नग्नवाद का पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है। और इस नग्नवाद की चरम परिणति द्वारिकाप्रसाद शर्मा के 'घेरे के बाहर' जैसे उपन्यासो में खुलकर सामने आई थी।

जब हिन्दी कथा-साहित्य में इस नग्नवाद का प्रभाव अधिक बढ़ने लगा, तो हिन्दी के सुधी आलोचकों ने इसका विरोध करते हुए एक संगठित आन्दोलन छेड दिया। इस आन्दोलन का काफी प्रभाव पडा और हिन्दी के अनेक नवोदित कथाकार इस मानसिक कुण्ठावाद के दूषित प्रभाव से मुक्त हो सामाजिक-यथार्थवादी कथा-साहित्य का सृजन करने लगे। यहाँ तक कि मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद के सर्वश्रेष्ठ कथाकार इलाचन्द्र जोशी के आगामी उपन्यासों में एक निश्चित परिवर्तन होता दिखाई दिया। वे अपने परवर्ती उपन्यास 'सुबह के भूले' और 'जहाज का पंछी' मे सामाजिक यथार्थवाद के काफी नजदीक आ गये। बाद में यशपाल भी स्वयं को इस नग्नवाद के मोह से मुक्त कर लेने मे सफल हुए और उन्होंने हिन्दी को कई उत्कृष्ट कोटि के उपन्यास भेंट किए। परन्तु जैनेन्द्र और अज्ञेय वृद्धावस्था में भी नग्नवाद की उसी कीचड़ मे यथावत् रम रहे हैं।

सामाजिक-यथार्थवादी उपन्यास

सामाजिक-यथार्थवादी उपन्यासों को, मोटे रूप में, दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—ऐतिहासिक-यथार्थवादी और सामाजिक-यथार्थवादी। वैसे इन दोनों वर्गों में कोई मौलिक भेद न होकर, केवल देश और काल का भेद होता है। ऐतिहासिक यथार्थवाद में वर्णित युग और देश की यथार्थ स्थितियों का चित्रण होता है, जो न्यूनाधिक, संकेत रूप में वर्तमान युग पर भी लागू होती हैं संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक इतिहास के से वर्तमान

समस्याओं का हल प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। हिन्दी के इस पद्धति के ऐतिहासिक उपन्यासकारों में वृन्दावनलाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, हजारी प्रसाद द्विवेदी, सत्यकेतु विद्यालंकार, रांगेय राघव, यशपाल, अमृतलाल नागर आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वर्माजी के—गढ़ कुंडार, माधव जी सिंधिया, टूटे काँटे, कचनार, मृगनयनी, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई आदि; चतुरसेन शास्त्री के—वैशाली की नगर वधू, वय रक्षाम, जय सोमनाथ, गोली आदि; हजारी प्रसाद द्विवेदी के—बाणभट्ट की आत्मकथा, चारु चन्द्रलेख, पुनर्नवा, अनामदास का पोथा आदि; सत्यकेतु विद्यालंकार के—आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य; रांगेय राघव के—मुर्दों का टीला, चीवर, अँधेरे के जुगनूं, प्रतिदान, पक्षी और आकाश, राह न रुकी आदि; यशपाल के—दिव्या, अमिता; अमृतलाल नागर के—सुहाग के नूपुर, मानस का हंस, एकदा-नैमिषारण्ये आदि ऐतिहासिक उपन्यास काफी चर्चित रहे हैं। राहुल सांकृत्यायन ने—'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' दो ऐतिहासिक उपन्यास लिखकर प्राचीन युग में समाजवादी-व्यवस्था का अंकन किया है। इन सभी उपन्यासों में कथानकों से सम्बन्धित युगों तथा देशों-प्रदेशों के जन-जीवन का, इतिहास के आधार पर यथार्थ चित्रण करने का प्रयत्न किया गया है। इन उपन्यासों के पढ़ने से हमें वर्णित युगों की परिस्थितियों और समस्याओं का न्यूनाधिक वैज्ञानिक विवरण ज्ञात होता है और उनकी पृष्ठभूमि में ऐतिहासिक आधार पर हम अपनी आधुनिक समस्याओं का विश्लेषण करने में समर्थ होते हैं। यही इनका महत्त्व माना जाता है।

सामाजिक उपन्यासों के दो वर्ग

इस वर्ग के उपन्यासों में समाज और व्यक्ति के पारस्परिक सापेक्षिक महत्त्व को स्वीकार कर, दोनों को ही केन्द्र बना, उनकी समस्याओं और संघर्षों का अंकन किया गया है। इसलिए ऐसे उपन्यासों में व्यक्ति समाज या उसके किसी विशिष्ट अंग का प्रतिनिधि बनकर आता है। जैसा कि हम पीछे बता आए हैं, इन उपन्यासों में 'यथार्थपरक समाजवादी' तथा 'यथार्थपरक आदर्शवादी'—दो प्रकार के उपन्यास लिखे गये हैं। यथार्थपरक समाजवादी उपन्यासकारों में—यशपाल, रांगेय राघव, अमृतराय, राहुल सांकृत्यायन, नागार्जुन, राही मासूम रजा, श्रीलाल शुक्ल, शैलेश मटियानी, हिमांशु श्रीवास्तव, हिमांशु जोशी, शानी आदि अधिक उल्लेखनीय माने जा सकते हैं, इन लोगों ने प्रगतिवादी विचारधारा को अपनाकर उपन्यास लिखे हैं। इसी कारण उनमें समाज का यथार्थ-चित्रण अधिक व्यापक और गहरे रूप में उभरा है। अमृतलाल नागर, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि भी यथार्थपरक समाजवादी उपन्यासकार तो अवश्य हैं, परन्तु प्रगतिवादी विचारधारा में उनकी अटूट आस्था न रहने के कारण उन्हें समाजवादी-परम्परा का उपन्यासकार माना जा सकता है, न कि विशुद्ध यथार्थपरक समाजवादी। भगवतीप्रसाद वाजपेयी जैसे उपन्यासकार चित्रण तो सामाजिक यथार्थ का करते हैं, परन्तु आदर्शवाद का मोह नहीं छोड़ पाते। इसलिए इन्हें 'आदर्शपरक समाजवादी' उपन्यासकार कहा जा सकता है।

यथार्थपरक समाजवादी उपन्यासकार

प्रेमचन्द के उपरान्त यशपाल को इस धारा का एक प्रतिनिधि-उपन्यासकार माना जा सकता है। उनके 'दादा कामरेड, देशद्रोही, पार्टी कामरेड, मनुष्य के रूप, बारह घण्टे, झूठा सच, मेरी तेरी उसकी बात' आदि इस परम्परा के प्रसिद्ध उपन्यास है। उनके सभी उपन्यासों की मूल चेतना मार्क्सवादी रही है। उन्होंने अपने इन उपन्यासों में मार्क्सवादी यथार्थपरक सामाजिक और राजनीतिक दृष्टिकोण को अपनाते हुए समाज और जीवन की विविधताओं और बहुपक्षी संघर्षों का चित्रण किया है। आर्थिक विषमताजन्य वर्ग-संघर्ष इनका प्रधान स्वर रहा है। प्रगतिवादी-शैली के उपन्यासों को लोकप्रियता प्रदान करने का बहुत-कुछ श्रेय यशपाल के इन उपन्यासों को ही है। देश-विभाजन की पृष्ठभूमि पर आधारित इनका विशालकाय उपन्यास 'झूठा सच' इस नवीन युग का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना जा सकता है। इसमें आजादी मिलते समय देश-विभाजन के कारण उत्पन्न हुई प्रतिक्रियाओं, संघर्षों, विध्वंस और विनाश, एक पुरानी जमी हुई संस्कृति और समाज के उखड़ने और फिर नये परिवेश में नया जन्म लेती हुई एक नवीन संस्कृति के जमने, नए जीवन-मूल्यों आदि का एक विशाल पृष्ठभूमि पर बड़ा ही मार्मिक और यथार्थ चित्रण हुआ है। इसमें हमारा सक्रान्तिकालीन सम्पूर्ण जीवन अपने हर पक्ष के साथ, सम्पूर्ण गहराई और उथलेपन को अपने भीतर समेटता हुआ साकार हो उठा है। 'झूठा सच' 'गोदान' की कोटि का श्रेष्ठ उपन्यास है।

रांगेय राघव इस प्रगतिवादी-परम्परा के अत्यन्त सशक्त उपन्यासकार रहे हैं। उन्होंने सामाजिक और ऐतिहासिक, दोनों प्रकार के शताधिक उपन्यास लिखे थे। इस परम्परा के उनके सामाजिक उपन्यासों में 'कब तक पुकारूँ' सर्वाधिक उल्लेखनीय है। अपने उपन्यासों में उन्होंने सामाजिक वर्ग-वैषम्य से पीड़ित मानव को अपनी विभिन्न कथाओं का नायक बनाया है। रांगेय राघव की यह विशेषता रही है कि विचारों से साम्यवादी रहते हुए भी वे किसी भी विचारधारा की रूढ़ियों और बन्धनों से मुक्त, स्वतन्त्र और जागरूक विचारक के रूप में हमारे सामने आते है। उनके सामाजिक और राजनीतिक व्यंग्य बड़े तीखे और मार्मिक बन पड़े है। उनकी मूल चेतना यथार्थवादी रही है।

नागार्जुन को प्रेमचन्द का वास्तविक उत्तराधिकारी और प्रगतिवादी-शैली का अत्यन्त प्रौढ़ और सशक्त उपन्यासकार माना जाता है। क्योंकि उन्होंने भारत के ग्रामीण-समाज को, प्रेमचन्द के ही समान अपना प्रमुख कथ्य बनाया है। 'बलचनमा, नई पौध, बाबा बटेसरनाथ, रतिनाथ की चाची, वरुण के बेटे, दुखमोचन' आदि उनके उल्लेखनीय उपन्यास हैं। इनमे उन्होंने ग्राम्य-जीवन, उसकी विषमताएँ और समस्याएँ, ग्राम्य-संस्कृति आदि का समाजवादी दृष्टिकोण के अनुसार चित्रण किया है। उनके उपन्यास सामाजिक-यथार्थ के अत्यन्त कलात्मक भव्य प्रतीक हैं। जीवन

की व्यापकता और सम्पूर्णता, सामाजिक आधार पर यथार्थ का चित्रण, कथा-शिल्प के नए प्रयोग और जनवादी तत्त्वों में दृढ़ आस्था—उनके उपन्यासों की प्रधान विशेषताएँ हैं। भूमि-संघर्ष, किसानों की समस्या, सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध संघर्ष, जनवादी-आन्दोलन की सफलता में दृढ़ विश्वास आदि के कारण ही नागार्जुन को प्रेमचन्द का सफल उत्तराधिकारी माना जाता है।

अन्य उपन्यासकार

इस सामाजिक यथार्थवादी चेतना-धारा के अन्य उपन्यासकारों में अमृतराय (नागफनी का देश, हाथी के दाँत, बीज आदि), हिमांशु श्रीवास्तव (लोहे के पंख, चित्र और चरित्र, नदी फिर बह चली, महासागर, पुरुष और महापुरुष आदि), महेन्द्रनाथ (आदमी और सिक्के, रात अँधेरी है आदि), नित्यानन्द वात्स्यायन (केला बाड़ी), निर्मल (अफसाना, धूप-छाँही रंग), मन्मथनाथ गुप्त (अवसान, जययात्रा, अंधेर नगरी, रक्षक-भक्षक, शहीद और सौहृद, काजल की कोठरी आदि), अंचल (चढ़ती धूप, नई इमारत, उल्का, मरु-प्रदीप आदि), कमलेश्वर (डाक बँगला, लौटे हुए मुसाफिर, तीसरा आदमी, एक सड़क सत्तावन गलियाँ, काली आँधी आदि) शैलेश मटियानी (बोरीवली से बोरी बन्दर तक, कबूतरखाना, चौथी मुट्ठी, भागे हुए लोग, उगते सूरज की किरण आदि), शानी (पत्थर बोलते हैं, काला जल, साँप और सीढ़ी, नदी और सीपियाँ आदि), राही मासूम रजा (आधा गाँव, टोपी शुक्ला, ओस की बूँद आदि), मन्नू भंडारी (आपका बन्टी आदि), सूर्यबाला (मेरे संधिपत्र आदि), गिरिधर गोपाल (चाँदनी का खँडहर आदि), मेहरुन्निसा परवेज (उसका घर), शिवानी, रजनी पनिकर, नरेन्द्र कोहली आदि हिन्दी के ऐसे कुछ उल्लेखनीय उपन्यासकार हैं, जिन्होंने अपने उपन्यासों में समाज के विभिन्न वर्गों का यथार्थपरक चित्रण किया है। इनके अतिरिक्त भी हिन्दी के ऐसे कई उपन्यासकार हैं जो सामाजिक यथार्थवाद के चितेरे रहे हैं और आज भी लिख रहे हैं। यहाँ स्थानाभाव के कारण इन सबका उल्लेख करने में हम असमर्थ हैं।

यथार्थ के चितेरे उपन्यासकार

हिन्दी में कुछ ऐसे उपन्यासकार बड़े सुन्दर और सशक्त उपन्यास लिखते रहे हैं जिन्होंने चित्रण तो सामाजिक यथार्थ का ही किया है, परन्तु जिनका मूल स्वर प्रगतिवादी (मार्क्सवादी) नहीं रहा है। ऐसे उपन्यासकारों में दो विशेष प्रसिद्ध अत उल्लेखनीय हैं—अमृतलाल नागर और उपेन्द्रनाथ 'अश्क'। ये दोनों सामाजिक यथार्थवादी परम्परा के उपन्यासकार तो हैं, परन्तु इनका मूल स्वर प्रगतिवादी अर्थात् मार्क्सवादी नहीं रहा है। अमृतलाल नागर जनता की अदम्य जिजीविषा, अपराजेय संघर्ष-भावना और सामाजिक-चेतना में अगाध आस्था रखते हुए अपने पात्रों का अंकन करते हैं। उनके नागरिक मध्य और निम्न वर्ग के पात्र अपनी सम्पूर्ण सबलताओं और दुर्बलताओं के साथ वर्ग-प्रतिनिधि का रूप धारण कर लेते हैं। नागरजी

युगीन समस्याओं का चित्रण ऐसी कलापूर्ण चतुराई के साथ करते है कि यह प्रतीत ही नही होता कि समस्याएँ कही मुखर रूप में प्रकट हो रही हैं। वे कथा के साथ अप्रत्यक्ष रूप में घुली-मिली-सी चलती हैं। उनके मार्मिक तीखे, परन्तु शालीन व्यंग्य कथा के प्रभाव और रोचकता में चार चाँद लगा देते है। समाज का दर्द और हर्ष-उल्लास नागरजी का अपना दर्द और हर्ष-उल्लास बनकर उनके उपन्यासो मे प्रत्यक्ष हो उठता है। वे 'महाकाल' और 'सेठ बाँकेमल' जैसे उपन्यासो की रचना कर, अमित कीर्त्ति के भागी बन उपन्यास-क्षेत्र में उतरे थे। 'सेठ बाँकेमल' हिन्दी का पहला सर्वोत्तम लघु आंचलिक उपन्यास है। इसमें उन्होंने आगरा के गोकुलपुरा नामक मुहल्ले की भाषा का जैसा यथार्थ, सफल और सार्थक प्रयोग किया है, वह अपने-आप में एक अनुपम उदाहरण है। नागरजी भाषा की शक्ति के असली पारखी है। प्रेमचन्द के उपरान्त भाषा की यह परख नागरजी में ही मिलती है। उनके उल्लेखनीय सामाजिक उपन्यास हैं—महाकाल, सेठ बाँकेमल, शतरंज के मोहरे, बूँद और समुद्र, अमृत और विष आदि।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने 'सितारों का खेल, गर्म राख, गिरती दीवारें, बड़ी-बड़ी आँखें, पत्थर अल पत्थर, एक नन्ही कन्दील' आदि अनेक सामाजिक उपन्यास लिखे है। अश्कजी मध्यवर्गीय सामाजिक जीवन और उसके अन्तर्विरोधों के कुशल चितेरे है। उनके इस चित्रण में समाज का यह वर्ग अपने सम्पूर्ण परिवेश के साथ साकार हो उठा है। इनके पात्र संघर्ष करते हैं, परन्तु सफल न होकर टूट जाते हैं। इसी कारण वे पाठकों में आशा और उत्साह की अपेक्षा निराशा की भावना ही अधिक उत्पन्न करते हैं। इनका यथार्थ चित्रण वस्तुस्थिति को तो स्पष्ट कर देता है, परन्तु आगे बढने की प्रेरणा नही दे पाता। वातावरण की सजीवता, सूक्ष्म चरित्र-चित्रण, शैली की मार्मिकता और व्यंजकता—अश्कजी के उपन्यासों की उल्लेखनीय विशेषताएँ है।

यथार्थ-चित्रण और आंचलिक उपन्यास

आंचलिक उपन्यासों में यथार्थ-चित्रण की अधिक गुंजायश रहती है। इनमे किसी अंचल-विशेष के सम्पूर्ण सामाजिक-राजनैतिक-सांस्कृतिक परिवेश का अंकन वहाँ की बोली के हल्के-से सम्मिश्रण के साथ किया जाता है। हिन्दी में निराला, उदयशकर भट्ट, नागार्जुन, अमृतलाल नागर, फणीश्वरनाथ रेणु, रांगेय राघव, देवेन्द्र सत्यार्थी, शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', शैलेश मटियानी, शिवानी आदि ने बड़े सुन्दर आंचलिक उपन्यास लिखे हैं। इनमे से अधिकांश उपन्यासकारों का दृष्टिकोण सामाजिक यथार्थवादी रहा है। इनमें सामान्य जनता की अदम्य जिजीविषा का प्रभावशाली अकन किया गया है। वस्तुतः इन उपन्यासों में परिवेश ही प्रधान रहता है, क्योकि उसी के माध्यम से जन-जीवन का यथार्थ चित्रण करना सम्भव होता है। इनमे पात्र गौण से प्रतीत होते हैं। परन्तु समष्टि रूप से विकसित होती हुई सामाजिक-चेतना सम्पूर्ण समस्याओं और विषमताओं को अपने भीतर समेटे हुए यथार्थ रूप में मुखरित हो उठती है। इसी कारण इन्हें सामाजिक-यथार्थवादी उपन्यास माना जाता है।

निष्कर्ष

प्रेमचन्द जिस सामाजिक यथार्थ का चित्रण करते हुए कथा-साहित्य में आए थे वह उस युग की एक प्रधान प्रवृत्ति बन गई थी। उसी से प्रभावित होकर प्रसाद जैसे भावुक और आदर्शवादी साहित्यकार ने अपने 'तितली' और 'कंकाल' नामक उपन्यासों में यथार्थ का चित्रण किया था। उस युग के अन्य अनेक कथाकारों की कृतियों में भी इसी यथार्थ की प्रधानता मिलती थी। इसके उपरान्त जब हिन्दी में प्रगतिवादी विचारधारा का प्रभाव बढ़ने लगा, तो उसके साथ-साथ जीवन और समाज की यथार्थ स्थितियों का कथा-साहित्य में और अधिक चित्रण होना आरम्भ हो गया। केवल व्यक्तिवादी और प्रयोगवादी विचारधाराओं के कुछ कथाकार ही मानव-मन की अन्धी गलियों में भटकते रहे। हिन्दी के अधिकांश कथाकार, चाहे वे प्रगतिवाद की समाजवादी-विचारधारा में आस्था रखते थे अथवा नहीं रखते थे, सामाजिक जीवन के यथार्थ-चित्रण को अपनी रचनाओं में स्थान देते रहे हैं। जिस देश में गरीबी, शोषण, अन्याय, अत्याचार, अशिक्षा आदि का ही प्राधान्य हो, उस देश के साहित्यकारों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे साहित्य-सृजन करते समय इन सबकी उपेक्षा कर जायें। यही कारण है कि भारत में नई सामाजिक-चेतना के उदय के साथ ही हिन्दी के अधिकांश साहित्यकार सामाजिक विषमताओं का चित्रण करने में जुट गए थे। आज भी भारत उन्हीं विषमताओं से जूझ रहा है। इसी कारण आज के हिन्दी कथा-साहित्य में समाज की यथार्थ स्थिति का चित्रण ही सर्वोपरि स्थान पा गया है। आदर्शवादी अथवा व्यक्तिवादी उपन्यास तो आजकल यदा-कदा ही लिखे जाते हैं।

७

प्रसाद : एक महान् नाटककार

- भूमिका
- नाटक-क्षेत्र में प्रसाद का उदय, नाट्य-कला का नया रूप
- प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों का महत्त्व, मूल प्रेरणा : सांस्कृतिक पुनरुत्थान, राष्ट्रीय चेतना का उग्र स्वर
- प्रसाद की नाट्य-कला का विकास, नाटकों का प्रसादपूर्ण अन्त
- क्या यह निराशावाद है ?
- कथा-चयन और संयोजन, वातावरण-चित्रण, पात्र-योजना
- अन्तर्द्वन्द्व का उदात्त रूप, हास्य की अवतारणा, गीत और काव्यात्मकता, रस-निरूपण
- अभिनेयता की समस्या, भाषा-समस्या
- मिश्रित नाट्य-शैली

भूमिका

जिस प्रकार हिन्दी के उपन्यास-जगत में प्रेमचन्द का, आलोचना के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का उदय हिन्दी-साहित्य के इतिहास की एक अभूतपूर्व, क्रान्तिकारी महान् घटना थी, उसी प्रकार नाटक के क्षेत्र में प्रसाद का पदार्पण करना हिन्दी-नाटक के लिए एक दैवी वरदान सिद्ध हुआ था। इसी कारण अपने समय में प्रसाद को 'नाटक-सम्राट्' की उपाधि से विभूषित किया गया था और आज भी प्रसाद, कम-से-कम, ऐतिहासिक नाटक लिखने वालों में अप्रतिम और सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। प्रसाद के कवि-रूप के समान ही उनका नाटककार का रूप अत्यन्त भव्य, उदात्त और गौरवमण्डित है। उन्हे युग-परिवर्तनकारी नाटककार माना जाता है। इसलिए यहाँ हम इस मान्यता का कारण जानने का ही प्रयत्न सबसे पहले करेंगे।

नाटक-क्षेत्र में प्रसाद का उदय

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारतेन्दु बाबू अपने नाटकों में भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-पद्धतियों का हल्का-सा समन्वित रूप प्रस्तुत कर चुके थे। बीसवीं सदी के आरम्भ में हिन्दी में जो नाटक लिखे गए, उनमें क्रमश: भारतीय प्राचीन नाट्य-शैली के स्थान पर पाश्चात्य नाट्य-शैली को अधिकाधिक अपनाया जाने लगा। नाटकों में से प्रस्तावना, विष्कम्भक, सूत्रधार, भरत-वाक्य आदि का बहिष्कार होना आरम्भ हो गया। पाश्चात्य-शैली का अनुकरण कर अंकों को विभिन्न दृश्यों में विभाजित कर प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति का विकास हुआ। दृश्य और सूच्य कथावस्तु का भेद समाप्त हो गया। भारतीय नाट्य-शास्त्र में मंच पर जिन दृश्यों को प्रस्तुत करने का निषेध किया गया है, उन दृश्यों और कार्यों को खुलकर प्रस्तुत किया जाने लगा। समष्टि रूप में, यहीं से हिन्दी-नाटक नए युग में प्रवेश करता है। हिन्दी-नाटक की इसी नई स्थिति के समय जयशंकर प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक नाटकों के साथ इस क्षेत्र में प्रवेश किया था और अपनी नई नाट्य-शैली द्वारा हिन्दी-नाटक के स्वरूप को बदल उसे एक नई दीप्ति प्रदान की थी, मानो हिन्दी-नाटक का कायाकल्प-सा हो गया। प्रसाद के नाटकों में पहली बार नाटक का साहित्यिक रूप प्रस्फुटित हुआ। उन्होंने अपने नाटकों के कथानकों के लिए प्राचीन भारतीय इतिहास के उस युग को चुना जो 'स्वर्णयुग' के नाम से विख्यात है। अपने नाटकों में उन्होंने प्राचीन भारतीय गौरव, सभ्यता, संस्कृति और परम्परा के अत्यन्त प्रभावशाली, प्रेरक और मनोरम-मोहक ऐसे चित्र प्रस्तुत किए जिन्हें देख पाठक एक नए ओज और गर्व से भर उठे। उन्होंने इन नाटकों में महाभारत के उत्तरार्द्ध-काल ('जनमेजय का नागयज्ञ') से लेकर सम्राट् हर्षवर्द्धन ('राज्यश्री') के समय तक की चुनी हुई प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटनाओं और पात्रों का अंकन किया। यही युग प्राचीन भारतीय इतिहास का 'स्वर्णयुग' कहलाता है।

नाट्य-कला का नया रूप

प्रसाद ने पाश्चात्य-नाटकों के कई तत्त्वों का अपने नाटकों में समावेश कर हिन्दी के नाटकों के स्वरूप में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। उन्होंने, भारतीय प्राचीन नाट्य-शास्त्र द्वारा वर्जित—वध, आत्महत्या, युद्ध, स्नान, भोजन आदि दृश्यों को अपने नाटकों में प्रस्तुत करना आरम्भ कर दिया। साथ ही रंगमंच-सम्बन्धी अन्य अनेक नियमों का भी उल्लंघन किया। पात्रों के अंकन में मनोविज्ञान को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया, जिसके फलस्वरूप पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का मार्मिक चित्रण करने में वे सफल हुए। प्रसाद ने पाश्चात्य नाट्य-शैली के अनेक युगानुरूप उपयोगी तत्त्वों को अपनाया तो अवश्य, परन्तु उसका अन्धानुकरण नहीं किया। सच तो यह है कि उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-शैलियों के उपयोगी तत्त्वों का समन्वय कर हिन्दी की एक नई नाट्य-शैली को जन्म दिया जिसका अनुसरण कर हिन्दी में नए ढंग के

नाटक लिखे जाने लगे। इस दृष्टि से प्रसाद को बीसवीं सदी के आधुनिक हिन्दी-नाटक का जन्मदाता माना जा सकता है।

प्रसाद के ऐतिहासिक-नाटकों का महत्त्व

जैसा कि हम आरम्भ मे कह आए हैं, प्रसाद ने प्रमुख रूप से ऐतिहासिक नाटक ही लिखे थे। और उन्होंने वे सारे नाटक भारतीयों में आत्मगौरव की राष्ट्रीय-भावना उत्पन्न करने के लिए ही लिखे थे। इसका कारण यह था कि जब प्रसाद ने नाटक लिखने आरम्भ किए थे, उस समय देश में अंग्रेजों की दासता मे मुक्ति पाने के लिए स्वतंत्रता-आन्दोलन चल रहा था। राष्ट्र-प्रेम और स्वतंत्रता पाने की भावना सारे देश में व्याप्त थी। उस समय जरूरत थी कि देशवासियो के हृदय में अपनी प्राचीन संस्कृति और सभ्यता के प्रति गौरव की भावना उत्पन्न हो। इसी लक्ष्य को सामने रख प्रसाद ने अपने नाटकों में प्राचीन भारतीय इतिहास के ऐसे गौरवपूर्ण प्रसगों को प्रस्तुत किया जो सांस्कृतिक और राष्ट्रीय दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध और उज्ज्वल थे। प्रसाद ने दूसरा कार्य यह किया कि नवीन युग की नई परिस्थितियो के लिए सर्वथा अनुपयुक्त अपनी प्राचीन नाट्य-शैली के प्रति हमारा मोह भंग कर हमें नए युग के साथ कदम-से-कदम मिला चलने को प्रेरित किया।

इसका कारण यह था कि प्राचीन नाट्य-शैली द्वारा नए युग को अभिव्यक्ति प्रदान करना कठिन था। क्योंकि यूरोप के अनुकरण पर भारत में भी मशीनो पर आधारित औद्योगीकरण पनपना आरम्भ हो गया था और उसके साथ-साथ देश मे यूरोपीय जीवन-मानों को अपनाने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी। उस प्रवृत्ति के कारण व्यक्ति का जीवन अधिक उलझन भरा और अन्तर्मुखी बनता जा रहा था। इसी को ध्यान मे रख प्रसाद ने अपने पात्रों को अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित दिखाया था। यह एक प्रकार से आधुनिक प्रवृत्ति को प्राचीन के आवरण मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न था। यूरोपीय नाटको में अन्तर्द्वन्द्व-चित्रण की यह प्रवृत्ति सत्रहवीं सदी से ही चली आ रही थी। प्रसाद ने उसे बीसवीं सदी में एक अधिक परिष्कृत और उपयोगी रूप में प्रस्तुत किया था। इसी कारण प्रसाद को अपनी नाट्य-शैली में परिवर्तन करना पड़ा था, क्योंकि हजारों साल पुरानी संस्कृत नाट्य-शैली में राष्ट्रीय-भावना से उद्वेलित नए युग को सार्थक-सफल अभिव्यक्ति प्रदान करना असम्भव था। समष्टि रूप से, प्रसाद की अपने राष्ट्र की पुनरुत्थान-भावना, राष्ट्रीयता के प्रति उनका उत्कट आग्रह, उनका आनन्दवाद पर आधारित दार्शनिक-चिन्तन, उनका संघर्ष के विष से जीवन के अमृत की खोज करने का प्रयत्न, नाट्य-शैली और शिल्प मे नए युग के अनुरूप परिवर्तन करना आदि विशेषताओं ने ही उन्हे हिन्दी के नए नाटकों का जन्मदाता और अपने युग का सर्वश्रेष्ठ नाटककार होने का गौरव प्रदान किया था।

मूल प्रेरणा : सांस्कृतिक पुनरुत्थान

प्रसाद के नाट्य-सृजन की मूल प्रेरणा ऐतिहासिक नाटकों द्वारा राष्ट्र में अपने अतीत इतिहास संस्कृति और परम्पराओं के प्रति गौरव की भावना उत्पन्न करना

[illegible] तथाकथित यूरोपीय श्रेष्ठता और [illegible] चाहते थे कि अंग्रेज भारतीयों से श्रेष्ठ और अजेय [illegible] करने में प्रसाद का एक विशिष्ट [illegible] था। भारत में अंग्रेजी-राज्य का विस्तार और प्रभाव बढ़ने के साथ-साथ अंग्रेज [illegible] यह प्रचार करते रहे थे कि भारतीय अर्द्ध-सभ्य तथा सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए और हीन रहे हैं। इनका न कोई गौरवपूर्ण इतिहास रहा है और न कोई अच्छी सभ्यता और संस्कृति ही रही है। उनकी तुलना में अंग्रेजी सभ्यता और संस्कृति बहुत व्यापक और महान् है। अंग्रेज इतने उदार और महान् हैं कि भारतीयों को सभ्य और अच्छा बनाने के लिए ही सात समुद्र पार कर, इतने कष्ट उठा भारत में आए हैं। [illegible] उनका कुछ है उनकी सभ्यता और संस्कृति को [illegible] प्रचार का भारतीय जनमानस पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ रहा था। भारतीय इतिहासकार भी अंग्रेज की इन्हीं बातों को दुहरा रहे थे। इसका परिणाम यह हो रहा था कि अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग अंग्रेजी-सभ्यता की ऊपरी-चमक से प्रभावित हो अपने को हीन और अंग्रेजों को श्रेष्ठ मान अंग्रेजी रहन-सहन को अपनाने लग गये थे। यह अंग्रेज का भारत पर अपनी सांस्कृतिक विजय स्थापित करने का षड्यंत्र था। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग अपनी सभ्यता, संस्कृति, इतिहास, भाषा, रहन-सहन सभी को अपने देश में घृणा करने लगे थे। इंगलैण्ड उनके लिए सभ्यता-संस्कृति का स्वर्ग बन गया था। यह भारत के लिए सांस्कृतिक विघटन का भयंकर संकट था जो राष्ट्र के लिए बहुत घातक बन सकता था।

राष्ट्रीय-चेतना का उच्च स्वर

ऐसे ही विषम सांस्कृतिक-विघटन के समय प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक नाटकों के माध्यम से [illegible] राष्ट्रीय-चेतना के स्वर को बड़ी बुलन्दी के साथ गुंजाया था। उन्होंने अनुभव किया कि इस समय प्राचीन भारतीय वीरों की गौरव-गाथा सुनाने मात्र से काम नहीं चलेगा। इस समय इस सर्वग्रासी विदेशी सांस्कृतिक राहु से भारत-रूपी चन्द्रमा की रक्षा करने का एकमात्र उपाय यही है कि भारतीयों को उनके सांस्कृतिक रूप के [illegible] उस अतीत की याद दिलाई जाय, जब भारत विश्व-गुरु के रूप में [illegible] संसार को सभ्यता और संस्कृति का नया आलोक प्रदान करता था। विदेशी अंग्रेज ने हम पर चुनौती दी थी कि—'तुम्हारी सभ्यता क्या है? तुम्हारी सांस्कृतिक उपलब्धि क्या है?' प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक नाटकों द्वारा इस चुनौती का सामना करते हुए उत्तर दिया था—

'जगे हम लगे जगाने विश्व,
लोक में फिर फैला आलोक।'

अपने इस सांस्कृतिक-अभियान की सिद्धि के लिए प्रसाद ने प्राचीन भारतीय इतिहास के उन अंशों को प्रस्तुत किया था जो यह सिद्ध करने में समर्थ थे कि सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीय इतिहास और परम्परा कितनी अधिक समृद्ध और सशक्त

है। जब अंग्रेज-जाति पूरी तरह से असभ्य, वर्बर और रोम के सम्राटों की गुलाम थी, उस समय भारत का प्रभापूर्ण सांस्कृतिक सूर्य सारे विश्व में अपनी सुखद, शान्तिदायक निर्मल किरणें विकीर्ण कर रहा था। प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक नाटकों द्वारा यही सिद्ध किया था। इस महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही उन्होंने सामयिक सामाजिक-समस्याओं को लेकर सामाजिक-नाटक नहीं लिखे थे। उनके ऐतिहासिक नाटकों ने अपने पाठकों की हीन-भावना को दूर कर उन्हें इस आत्म-विश्वास से भर दिया था कि हम एक अत्यन्त समृद्ध सांस्कृतिक-विरासत के उत्तराधिकारी है। प्रसाद ने ही अपने 'चन्द्रगुप्त' नाटक द्वारा पहली बार यह घोषित किया था कि यूरोपियों की दृष्टि मे विश्व विजेता 'सिकन्दर महान्' को भारत से पराजित होकर भागना पड़ा था। भले ही प्रसाद की इस स्थापना मे कल्पना का थोड़ा-बहुत अंश रहा हो, परन्तु इसने हमारे मन मे एक नए आत्म-गौरव और आत्म-विश्वास की भावना उत्पन्न कर इस नई चेतना से भर दिया था कि अंग्रेज को भारत से भगाया जा सकता है। यह प्रसाद की एक महान् उपलब्धि थी।

हमें दुख इस बात का है कि प्रसाद की इस राष्ट्रीय-देन का सही मूल्यांकन नहीं किया जाता। वस्तुतः इसका सही मूल्यांकन भविष्य में, निष्पक्ष इतिहासकार ही करने में समर्थ हो सकेंगे। क्योंकि अभी तक तो हमारे स्वतंत्र देश के कर्णधार इसी भ्रम में पड़े हुए हैं कि अंग्रेजी भाषा और यूरोप-अमेरिका के बिना हमारा काम ही नहीं चल सकता। परन्तु, भविष्य में, जब हमारे ऊपर से अंग्रेजी-भाषा रूपी भूतनी और पाश्चात्य-सभ्यता रूपी भूत पूरी तरह से उतर जायेगा, तभी प्रसाद जैसे साहित्यकारों का सही मूल्यांकन सम्भव होगा। अस्तु,

प्रसाद की नाट्य-कला का विकास

रचना-काल के अनुसार प्रसाद के नाटकों का क्रमिक अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह क्रमशः प्राचीन से नवीन की ओर बढ़ते चले गए है। 'सज्जन' उनका पहला नाटक है। इसमें प्रस्तावना, नान्दी, सूत्रधार, भरत-वाक्य आदि संस्कृत-नाटकों की अधिकांश बातें और लक्षण मिल जाते हैं। परन्तु, इसके उपरान्त, प्रसाद एक-एक कर इन प्राचीन लक्षणों-नियमों का मोह त्यागते चले गए हैं। प्रस्तावना गायब हो जाती है। पहले दृश्य में ही कथा तथा प्रधान पात्रों का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। इसे प्रस्तावना का ही एक नया रूप माना जा सकता है। प्रसाद के 'एक घूँट' नामक एकांकी में पाश्चात्य-शैली के अनुरूप रंगमंचीय संकेत विस्तृत और विवरणात्मक हो उठे है। उसमे आधुनिक सांकेतिकता (प्रतीकात्मकता) की प्रवृत्ति लक्षित होती है। उनके अनेक परवर्ती नाटकों में विष्कम्भक-प्रवेशक के स्थान पर पाश्चात्य 'इन्टरल्यूड' के ढंग से बीती और भावी कथाओं की योजना की गई है। उनके 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ' और 'स्कन्दगुप्त' में यह प्रवृत्ति पर्याप्त विकसित मिलती है

इनके आरम्भिक नाटकों में सम्वाद सरल, सादे और संक्षिप्त रहे हैं। इनमें इनका ध्यान अभिनेयता की ओर ही अधिक रहा है। स्वगत-कथन भी संक्षिप्त है। परन्तु परवर्ती नाटकों में सम्वाद अधिक काव्यात्मक, जटिल, दुरूह और लम्बे हो उठे हैं। यहाँ प्रसाद का ध्यान अभिनेयता से हटकर दार्शनिक-विवेचनों पर अधिक केन्द्रित मिलता है। संस्कृत नाट्य-शास्त्र द्वारा वर्जित दृश्यों को तो उन्होंने आरम्भ से ही प्रस्तुत करना शुरू कर दिया था और अन्त तक करते रहे थे। अंकों का दृश्यों में विभाजन करना भी आरम्भ से ही चलता रहा था। भाषा और शैली आरम्भिक नाटकों में सरल, सुबोध और संक्षिप्त रही थी, परन्तु परवर्ती नाटकों में उत्तरोत्तर अधिक प्रांजल, काव्यात्मक और दार्शनिकता के कारण बोझिल, साथ ही मनोरम भी बनती चली गई थी।

नाटकों का प्रसादपूर्ण अन्त

प्रसाद के नाटकों के सम्बन्ध में एक बात विचित्र-सी लगती है कि उन्हें विशुद्धरूपेण न तो सुखान्त ही माना जा सकता है और न दुखान्त ही। वैसे, सामान्य रूप से उनके सभी नाटक सुखान्त ही माने जायेंगे और इसके लिए उनका आदर्श नाटकों के अन्त-वाक्य रहे हैं। परन्तु प्रसाद की इस सुखान्तता और संस्कृत-नाटकों की सुखान्तता में अन्तर है। संस्कृत-नाटकों में फलागम की अवस्था को निश्चित बनाने के लिए उन्हें सुखान्त बनाया जाता था, क्योंकि उनका झुकाव आदर्शवाद की ओर रहता था। इनके विपरीत प्रसाद के नाटकों की सुखान्तता सदैव फलागम के अनुरूप ही नहीं रहती। एक अर्थ में उनके अनेक नाटक सुखान्त तो हैं, नायक और नायिका अन्त तक जीवित बने रहते हैं। उनका झुकाव भी आदर्शवाद की ओर रहता है, परन्तु नायक उस फल को नहीं प्राप्त कर पाता, जिसके प्रति नाटककार आरम्भ में ही संकेत कर देता है। जिस कार्य के लिए आरम्भ में ही इतना संघर्ष होता रहता है, उसका रूप स्पष्ट नहीं हो पाता। ऐसा लगता है मानो नायक चला किसी दूसरे स्थान के लिए था, परन्तु भटक कर पहुँच किसी अन्य स्थान पर जाता है। वह अन्त तक 'प्रकृति का अनुचर' और 'नियति का दास' बना रहता है। इसी कारण प्रसाद के नायकों में स्कन्दगुप्त, चाणक्य, जनमेजय आदि अपने पूर्व-निश्चित फल की प्राप्ति से वंचित रह जाते हैं, क्योंकि उनमें सब-कुछ करते हुए भी, उस सब-कुछ के प्रति एक गहरे विराग की भावना भरी रहती है और वे उस सब-कुछ को त्याग कर चले जाते हैं।

क्या यह निराशावाद है?

कुछ आलोचकों ने इस प्रकार के अन्त को 'प्रसादान्त' कहा है, जिसमें सुख-दुख से ऊपर-सा उठ प्रसाद की, कल्याण की भावना भरी रहती है। इसके विपरीत कुछ लोगों ने इसे प्रसाद की निराशावादी प्रवृत्ति का परिणाम घोषित किया है। परन्तु ऐसा कहना गलत है। जब किसी व्यक्ति को अपनी मूल प्रवृत्ति के विरुद्ध कोई

काम करना पड़ता है, तो वह उसे करना अपना कर्त्तव्य समझ करता तो है, परन्तु उसके फल के प्रति स्वयं उदासीन बना रहता है। स्कन्दगुप्त, चाणक्य, जनमेजय उनके ऐसे ही पात्र रहे हैं। वे फल के भोक्ता और अधिकारी होते हुए भी स्वेच्छया उसका भोग नहीं करते और फल-प्राप्ति के समय सब-कुछ त्याग चल देते हैं। इस स्थिति को पूरी तरह से न तो सुखान्त ही माना जा सकता है और न दुखान्त ही। यह इन दोनों के बीच की सी स्थिति होती है, और इस स्थिति को ही 'प्रसादान्त' कहा गया है। यह पाठकों-दर्शकों के हृदय मे एक उदासी भरी शान्ति उत्पन्न कर देती है। परन्तु इसे 'कामायनी' के आनन्दवाद की समरसता की स्थिति नहीं माना जा सकता, क्योंकि इस स्थिति मे मन अन्तर्द्वन्द्व से पूर्णतः मुक्त नहीं होता। उस समय प्रसाद के पात्रों की मन:स्थिति भाग्यवादी व्यक्ति की सी रहती है। वे सोचते है कि उन्हे जो कुछ करना पड़ा, वह उनके भाग्य मे ही लिखा था। यही प्रसाद का 'नियतिवाद' है, जिसमें कर्त्तव्य सर्वोपरि प्रधान रहता है। इसकी अन्तिम परिणति लोकमंगल मे होती है। उनके पात्र मंगलमय जीवन की ओर प्रवृत्त होते है, जिसका मूलमंत्र है—करुणा और मानव-प्रेम। और इसे ही प्रसाद का आदर्शवाद माना जा सकता है।

कथा-चयन और संयोजन

हम पीछे बता आए है कि प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक नाटकों की कथाओं का चयन प्राचीन भारतीय-इतिहास के, महाभारत से लेकर सातवीं-आठवीं सदी तक के विभिन्न काल-खण्डों में से किया है। उन्होंने इसका कारण बताते हुए लिखा था—

"इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यन्त लाभदायक होता है।''' मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।"

यही कारण है कि उन्होंने प्राचीन भारतीय-इतिहास के 'स्वर्णयुग' से ही अपनी कथाएँ चुनी हैं। उन्होंने यह चयन इतिहास से तो किया है, परन्तु उस इतिहास की उनकी व्याख्या परम्परागत धारणा के विरुद्ध और मौलिक रही है। इसके लिए उन्होंने साधार कल्पना की भी सहायता ली है और इतिहास का गहन अध्ययन कर नई खोजें भी की हैं। उनके आरम्भिक नाटकों की कथाएँ सरल हैं, परन्तु बाद मे लिखे गए—अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त आदि की कथाएँ काफी जटिल हो गई हैं। इनमें कथा का क्षेत्र कई राज्यों तक, दूर-दूर तक फैल जाता है। उन राज्यों की घरेलू राजनीति, पारस्परिक सम्बन्ध, षड्यंत्र, कूटनीति, कलह, युद्ध आदि के कारण पात्रों और घटनाओं की संख्या काफी बढ़ गई है। इससे कहीं-कही कथा उलझ-सी जाती है, शिथिल गति से आगे बढ़ती है और सांकेतिक हो उठती है। मूल

कथा ऐतिहासिक ही रहती है और प्रसाद उसके टूटे हुए सूत्रों को अपनी उर्वर कल्पना द्वारा परस्पर जोड़ते चलते हैं। कल्पना का यह समावेश इतिहास के नीरस, सूखे-से कंकाल को मांसल बना सौन्दर्य और सरसता से आपूरित कर देता है। वह पहले इतिहास के विच्छिन्न सूत्रों को परस्पर जोड़ एक सुगठित कथानक का ढाँचा तैयार कर लेते हैं, और फिर बाह्य घटनाओं के अनुरूप ऐतिहासिक पात्रों की मनःस्थितियों का चित्रण करते हुए, इतिहास के खाली अंशों की पूर्ति कल्पित पात्रों और घटनाओं की सृष्टि कर करते चलते हैं। इसी कौशल के कारण उनका कथा-संयोजन पर्याप्त सुगठित और सन्तुलित बना रहता है।

वातावरण-चित्रण

कथा में वर्णित युग का, देश-काल-पात्र के अनुरूप चित्रण करने की कला में प्रसाद अत्यन्त कुशल हैं। इस वातावरण-चित्रण को उनके नाटकों की एक विशिष्ट उपलब्धि माना जा सकता है। उन्होंने घटनाओं और पात्रों के क्रिया-कलापों, सम्बन्धों, भाषा-शैली आदि की सहायता से वर्णित युग की संस्कृति के बड़े यथार्थ और प्रभाव-शाली चित्र अंकित कर दिए हैं। उन चित्रों से उस युग की विभिन्न परिस्थितियों के मार्मिक रूप उभरे हैं। जैसे—बौद्ध-ब्राह्मण-विग्रह और उसके परिणाम, समाज में नारी की सम्मानपूर्ण स्थिति, समाज में ब्राह्मणों का स्थान, महत्त्व और प्रभाव, प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति, शिक्षण-केन्द्र, गुरुकुलों की, तपस्वियों के आश्रमों की महत्ता, प्राचीन कला-प्रेम, राजन्य-वर्ग की विलासिता, निर्ममता, मूर्खता, आखेट-प्रेम, मद्यपान आदि के नानाविध चित्र उनके विभिन्न नाटकों में बिखरे पड़े हैं। यह सब-कुछ मिलकर वर्णित-युग को हमारे मानस-नेत्रों के सम्मुख प्रत्यक्ष-सा कर देता है। इसमें हम कहीं भी असंगति या अस्वाभाविकता नहीं मिलती। सब कुछ इतिहास के अनुरूप ही रहता है।

पात्र-योजना

प्रसाद के नाटकों के सभी प्रमुख पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति ही रहे हैं। परन्तु प्रसाद ने उनके व्यक्तित्व में अपनी कल्पना के रंग भर कर उन्हें अधिक आकर्षक, सशक्त और जीवन्त बना दिया है। उनके सभी नायक नाट्यशास्त्र द्वारा निर्धारित गुणों और चारित्रिक विशेषताओं के धनी हैं। जनमेजय, अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, हर्षवर्धन आदि सभी नायक धीरोदात्त वर्ग के नायक हैं। सभी खलनायक धीरोद्धत स्वभाव वाले हैं। नायिकाओं के भी ऐसे ही रूप मिलते हैं। इन पात्रों की एक सर्वाधिक मौलिक विशेषता यह है कि वे संस्कृत नाटकों के पात्रों के समान पूर्ण देवत्व और पूर्ण दानवत्व के प्रतीक न बनकर मूलतः मानव ही बने रहते हैं, जिनमें अच्छाई और बुराई का स्वाभाविक समन्वित रूप रहता है।

परन्तु प्रसाद के नारी-पात्र सर्वथा विशिष्ट और कल्पना द्वारा गढ़े गए से प्रतीत होते हैं। उनमें स्वाभाविकता कम ही मिलती है क्योंकि इन नारी-पात्रों का

सृजन प्रसाद का कवि करता है, न कि नाटककार। नाटककार यथार्थवादी होता है और कवि कल्पनाशील आदर्शवादी। प्रसाद की नायिकाएँ भावुकता, सेवा, त्याग, मर्यादा, आस्था और स्वाभिमान की मानो साकार प्रतिमाएँ हैं। दुष्ट नारी-पात्रों का चित्रण करते समय भी प्रसाद निर्मम नहीं बन पाए हैं। उनकी खलनायिकाएँ भी राजनीति के क्रूर-कठोर खेल खेलती हुई भी अन्त में पश्चाताप की अग्नि में गल, शुद्ध हो, भली नारियाँ बन जाती हैं। क्योंकि प्रसाद नारी-जाति का अत्यधिक सम्मान करते थे।

प्रसाद की पात्र-योजना में एक विचित्रता मिलती है—साहश्य और विरोध की। उनके प्रमुख पात्रों में हम सर्वत्र एक अद्भुत विरोध और साहश्य पाते हैं। उन्होंने भिन्न-भिन्न द्वन्द्वों को प्रस्तुत करने के लिए अनुरूप और प्रतिकूल पात्रों की सृष्टि की है। उनके अधिकांश नाटकों के ऐसे पात्रों में कुछ-न-कुछ समानता अवश्य मिलती है। उनके खलपात्र भी लगभग एक-से ही रहे हैं, यद्यपि वे अपने-अपने विशिष्ट व्यक्तित्व की भी झलक दिखाते चलते हैं। इसी प्रकार उनके शुभ प्रवृत्ति वाले पात्रों में भी ऐसी ही समानता मिलती है। इसका कारण सम्भवत: यह रहा होगा कि उन्होंने अपने नाटकों की रचना एक विशिष्ट आदर्श को लक्ष्य में रखकर की थी। इस साहश्य और विरोध की समानता का यही एक कारण माना जा सकता है।

अन्तर्द्वन्द्व का उदात्त रूप

सम्भवतः हिन्दी में प्रसाद ने ही अपने नाटकों में पहली बार यूरोपिय-पद्धति के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण किया था। उन्होंने अपने कुछ पात्रों में परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों को दिखाकर, उन प्रवृत्तियों में परस्पर संघर्ष होता दिखाया है। चाणक्य जैसे निर्मम और कठोर पात्र में भी हृदय की प्रेमजनित दुर्बलता और चंचलता मिल जाती है। आन्तरिक प्रवृत्तियों का यह द्वन्द्व ऐसे पात्रों को कभी शुभ की ओर प्रेरित करता है, कभी अशुभ की ओर। कुछ पात्रों की प्रवृत्ति बाह्य रूप से ऐसी दिखाई देती है कि उसके आधार पर उनके सही रूप का अन्दाज़ एकाएक नहीं लगाया जा सकता। वे ऊपर से कुछ और भीतर से कुछ और ही प्रतीत होते हैं। इसी कारण उनके मन, वचन और कार्य में संगति नहीं बैठ पाती, विषमता बनी रहती है। डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने इसका विश्लेषण करते हुए लिखा है—

"इनका समझना सरल नहीं होगा। इनके स्थूल बाह्य और सूक्ष्म अन्तर में बड़ा भेद दिखाई पड़ता है। स्वभाव ही इनका गुप्त और गम्भीर होता है। इनको बारीकी से देखने पर कुछ अन्य प्रकार की विशेषताएँ मिलती हैं। ये हँसते हुए भी रो सकते हैं और रोते हुए भी हँसते हैं। ऐसे ही लोगों में अन्तर्द्वन्द्व का प्रकृत रूप दिखाया जा सकता है।"

बिम्बसार, वासवी, मल्लिका, चाणक्य, देवसेना, स्कन्दगुप्त आदि के चरित्रों में प्रसाद ने इस अन्तर्द्वन्द्व का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है अन्तर्द्वन्द्व के समावेश

ने उनके चरित्र और व्यक्तित्व में गम्भीरता, जटिलता और वैचित्र्य उत्पन्न कर दिया है। 'चन्द्रगुप्त' में चाणक्य को हँसता देख कात्यायन उससे कहता है—

"तुम हँसो मत चाणक्य। तुम्हारा हँसना तुम्हारे क्रोध से भी भयानक है।"

हास्य की अवतारणा

प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक अपने उदात्त लक्ष्य के कारण, सामान्यतः गम्भीर वातावरण से भरे रहते हैं। प्रसाद ने उनकी इस गम्भीरता को कम करने के लिए विदूषकों द्वारा हास्य उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है। उनके ये विदूषक दो प्रकार के हैं—सामान्य और विशिष्ट। सामान्य-वर्ग के विदूषक अपनी विनोदी प्रकृति द्वारा बीच-बीच में हास्य की फुलझड़ियाँ छोड़ते चलते हैं, जैसे—काश्यप, विकट घोष, महापिंगल आदि। विशिष्ट-वर्ग के विदूषक ऐसे हैं, जो हास्य के आवरण में लपेट बड़ी गहरी बात कह जाते हैं। जैसे—'अजातशत्रु' का वसन्तक और 'स्कन्दगुप्त' का मुद्गल। ये विदूषक नायक के अन्तरंग मित्र होते हैं, उसके साथ हास-परिहास करते रहते हैं। कभी-कभी उसके उद्देश्य की पूर्ति में महत्त्वपूर्ण भूमिका भी निभाते हैं। परन्तु, कुल मिलाकर, हास्य-रस की दृष्टि से प्रसाद के नाटकों को सफल नहीं माना जा सकता।

गीत और काव्यात्मकता

प्रसाद के नाटकों में, आजकल की फिल्मों की तरह, गीतों की भरमार मिलती है। प्रसाद मूलतः कवि थे, इसलिए भावावेश के क्षणों में उनका कवि सुन्दर, भाव-प्रवण गीतों के रूप में उभरता रहता है। जहाँ गीत का अवकाश नहीं मिलता, वहाँ काव्यात्मक-गद्य के रूप में अपनी झलक दिखा देता है। 'स्कन्दगुप्त' की देवसेना को तो जैसे गाने का रोग-सा है। 'अजातशत्रु' की पद्मावती भी ऐसी ही है। 'चन्द्रगुप्त' के तो अधिकांश नारी-पात्र—कार्नेलिया, कल्याणी, मालविका, सुवासिनी गीतों द्वारा ही अपने भावों को व्यक्त करती हैं। प्रणयोद्गारों की भावुकता जैसे उनके गीतों से छलकी पड़ती है। इसके विपरीत अलका का प्रयाण-गीत उत्साह, रोष आदि परुष भावों की सफल व्यंजना कर नसों में बिजली-सी दौड़ा देता है। समष्टि रूप से, प्रसाद की यह गीत-योजना स्थिति और कथा-विकास के औचित्य का अतिक्रमण कर जाती है। नाटकों में गीतों की अपनी एक उपयोगिता होती है—उत्तेजक दृश्यों के उपरान्त मन को थोड़ा-सा बहला देना। परन्तु एकाएक उत्तेजक वातावरण के बाद ही उससे भिन्न एक दूसरा ही दृश्य उपस्थित कर देने से एक झटका-सा लगता है। प्रसाद के अधिकांश नाटकों में गीत-योजना का ऐसा ही रूप मिलता है। केवल 'ध्रुवस्वामिनी' की गीत-योजना को ही सुन्दर और सफल माना जा सकता है।

रस-निरूपण

समष्टि रूप से प्रसाद के नाटकों में तीन रसों—वीर, शृंगार तथा शान्त—का ही [illegible] मिली है। उनके अधिकांश नाटक वीर रस का दामन पकड़ कर

आरम्भ होते हैं। कथा के विकास के साथ-साथ उसमें नानाविधि प्रेम-प्रसंग जुड़ते चले जाते हैं, जो अन्त तक वीररस का साथ नहीं छोड़ते। इस प्रकार इन नाटकों में वीर और शृंगार का परस्पर चोली-दामन का-सा घुला-मिला रूप मिलता है। उनमें से कौन-सा रस प्रधान है और कौन-सा गौण, यह निर्णय करना बड़ा कठिन हो जाता है। युद्ध और संघर्ष की विभीषिका से त्रस्त उनके पात्र क्षण-भर के लिए प्रेम की शीतल-मधुर छाया में विश्राम कर, पुनः नए उत्साह के साथ कर्मक्षेत्र में कूद पड़ते हैं।

इन नाटकों में शृंगार के भी दो रूप मिलते हैं। कुछ पात्रों का प्रेम, मिलन का रूप धारण कर लेता है; जैसे—'चन्द्रगुप्त' में अलका-सिंहरण का। प्रसाद के प्रेम-निरूपण का सर्वश्रेष्ठ रूप वहाँ मिलता है जहाँ प्रेमी-प्रेमिका मार्ग की सारी बाधाएँ हट जाने पर भी, त्याग और बलिदान की भावना से प्रेरित हो परस्पर प्रणय-सूत्र में आबद्ध होने से इन्कार कर देते हैं। उनका प्रेम शाश्वत विछोह को स्वतः ही अपना लेता है। निराश प्रेम का यह रूप अत्यधिक निर्मम, करुण और व्याकुल कर देने वाला होता है। 'स्कन्दगुप्त' के स्कन्दगुप्त और देवसेना ऐसे ही प्रेमी-युगल हैं। प्रेम के ऐसे अन्त में भी शान्त रस की सृष्टि होती है। 'चन्द्रगुप्त' में चाणक्य और सुवासिनी का प्रेम भी इसी कोटि का है। यह प्रेम का उदात्ततम निर्मल रूप है। प्रेम के ऐसे ही अन्त को देख कर कुछ आलोचकों ने प्रसाद के नाटकों को 'प्रसादान्त' कहा था।

अभिनेयता की समस्या

अब तो खैर प्रसाद के सभी नाटकों को रंगमंच पर अभिनीत किया जा चुका है, परन्तु पहले कुछ लोगों का यह कहना था कि इन नाटकों के कथानक इतने बड़े और जटिल हैं, इनकी भाषा इतनी क्लिष्ट है कि उन्हें रंगमंच पर अभिनीत करना दुष्कर कार्य है। इसके विपरीत कुछ का यह कहना था कि साहित्य में ऐसे नाटकों को भी महत्त्व मिलना चाहिए जो अभिनेय भले ही न हों परन्तु पढ़ने में सरस और साहित्य-रस का आनन्द प्रदान करने में समर्थ हों। क्योंकि हम अभी भी कालिदास, शेक्सपीयर, मॉलियर आदि के नाटकों को पढ़ते समय उनका पूरा-पूरा आनन्द उठाते हैं। यह जरूरी नहीं कि केवल उनको रंगमंच पर अभिनीत होता देखकर ही हमें आनन्द मिले और पढ़ने पर न मिले। अतः प्रश्न उठता है कि क्या नाटक का अभिनेय होना जरूरी है ?

साहित्य में नाटक का मूल्यांकन करते समय सबसे पहले उसके साहित्यिक गुणों का ही मूल्यांकन किया जाता है, उसकी अभिनेय-क्षमता का नहीं। किसी नाटक को रंगमंच पर अभिनीत होता देख हम पात्रों की अभिनय-क्षमता, रंगमंच की साजसज्जा, प्रबन्ध, निर्देशन, प्रस्तुतीकरण आदि की ही आलोचना करते हैं, उसकी साहित्यिक उपलब्धियों और गुणों की नहीं जिन नाटकों को अभिनीत करना कठिन

अथवा असम्भव माना जाता है, उन्हें पढ़कर ही आनन्द प्राप्त किया जाता है। दूसरी बात यह कि किसी भी नाटक को रंगमंच पर प्रस्तुत करने से पूर्व निर्देशक रंगमंच की सीमाओं और सुविधाओं को ध्यान में रख नाटक में जरूरी काट-छाँट कर लेता है। प्रसाद के नाटकों को अभिनीत करते समय भी इसी प्रक्रिया को अपनाया जा सकता है। वस्तुतः किसी भी नाटक को रंगमंच पर अभिनीत कर पाना या न कर पाना रंगमंच की क्षमता और सुविधाओं पर भी बहुत-कुछ निर्भर करता है। अब तो रंगमंच की तकनीक इतनी उन्नत हो चुकी है कि उस पर कठिन-से-कठिन दृश्यों को आसानी से प्रस्तुत कर दिया जाता है।

दरअसल अभिनेयता की सबसे बड़ी कसौटी नाटक के दृश्य-विधान पर निर्भर करती है। दृश्य-विधान यदि गलत, जटिल और ऊटपटाँग है, तो नाटक आकार में कितना ही छोटा हो उसकी भाषा, सम्वाद आदि सरल-संक्षिप्त हों, तो भी उसका अभिनय नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से प्रसाद के नाटकों का दृश्य-विधान पूर्णतः सुनियोजित, सुगठित और निर्दोष है। यह दृश्य-सम्पन्नता ही उन्हें अभिनेय बना देती है। उनके दृश्यों में विभिन्नता और नवीनता के साथ-साथ 'अद्भुत' और 'वैचित्र्य' का भी मनोरम संयोग हुआ मिलता है। उनके दृश्यों का क्रम ऐसा नहीं है कि दूसरे दृश्य की योजना करने में अधिक समय लगे। इसलिए उन्हें अभिनीत करना सरल है।

भाषा की समस्या

प्रसाद के परवर्ती नाटकों की भाषा-शैली पर प्रायः यह आरोप लगाया जाता रहा है कि "उनकी भाषा अधिक संस्कृत-गर्भित और काव्यात्मक होने के कारण क्लिष्ट हो उठी है। साथ ही वह पात्रानुकूल भी नहीं है। उनके देशी-विदेशी सभी पात्र एक-सी ही संस्कृत-गर्भित भाषा बोलते हैं।" ऐसा कहने वालों के अनुसार नाटक की भाषा इतनी सरल और सुबोध होनी चाहिए कि सामान्य पाठक और दर्शक भी उसे आसानी से समझ लें। साथ ही सभी पात्र एक-सी ही भाषा न बोल अपने-अपने देश और स्थिति के अनुरूप भाषा बोलें। जैसे, किसी पठान या बंगाली पात्र को टूटी-फूटी हिन्दी में बोलना चाहिए। प्रसाद ने इसका उत्तर देते हुए लिखा था—

"भिन्न-भिन्न देश और वर्ग वालों से उनके देश और वर्ग के अनुसार भाषा का प्रयोग कराने से नाटक को भाषाओं का अजायबघर बनाना पड़ता है जो कहीं अधिक अस्वाभाविक हो जाता है और सामाजिकों के लिए भी इतनी भाषाओं से परिचय रखना असम्भव है। इसके अतिरिक्त इस विषय की आवश्यकता भी नहीं दिखाई पड़ती। न जाने कितने विदेशियों को हम अपनी ही तरह हिन्दी बोलते-समझते पाते हैं। जहाँ अपनी भावुकता और कल्पना के बल पर हम इतने बड़े अभिनय को नकल और अभिनय न समझ कर सच्ची घटना मानते हैं और उसी के साथ हँसते-रोते, सुख दुख अनुभव करते हैं वहाँ ऐसी बात यथार्थ है अथवा अन्यथा इसके विचार का अवसर

ही कहाँ रह जाता है। जब हम सिल्यूकस और कार्नेलिया को सामने खड़ा देखते हैं, तब वे यथार्थ मालूम पड़ने हैं, और जब वे परिष्कृत भाषा प्रयोग करने लगते हैं तब अयथार्थ हो जाते है, यह भी कोई तर्क है। अतएव भाषा-विविधता के लिए आग्रह न करना ही हितकर है। स्वरूप-भिन्नत्व केवल वेश-भूषा से ही व्यक्त कर देना चाहिए।"

—'काव्य, कला तथा अन्य निबन्ध'

यह तो हुई पात्रानुकूल भाषा की बात। अब भाषा की क्लिष्टता की समस्या भी देख लेनी चाहिए। इस समस्या पर भी अपने विचार प्रकट करते हुए प्रसाद ने लिखा है—

"भावनाओं के अनुसार ही जैसे-जैसे हमारे दैनिक क्रिया-कलापों में गति और शक्ति आती जाती है, भाषा में भी वही गति रहनी चाहिए।...... आलोचकों का कहना है कि वर्तमान युग की प्रवृत्ति के अनुसार भाषा सरल हो और वास्तविक भी हो।.... "प्रभाव का असम्बद्ध स्पष्टीकरण भाषा की क्लिष्टता से भी भयानक है। भाषा की सरलता की पुकार भी कुछ ऐसी ही है। ऐसे सामाजिकों और दर्शकों का अभाव नहीं किन्तु प्रचुरता है जो पारसी स्टेज पर गाई गई ग़ज़लों के शब्दार्थ से अपरिचित रहने पर भी तीन बार तालियाँ पीटते हैं। क्या हम नहीं देखते हैं कि भाषा के अबोल चित्रपटों के अभिनय मे भाव सहज ही समझ में आते है और कथकलि के भावाभिनय भी शब्दों की व्याख्या ही है। अभिनय तो सुरुचिपूर्ण शब्दों को समझाने का काम रंगमंच से अच्छी तरह करता है।"

अर्थात् भाषा की क्लिष्टता को मँजे हुए अभिनय द्वारा आसानी से दूर किया जा सकता है। पात्रों का अभिनय भावों को स्पष्ट कर देता है। क्लिष्टता के सम्बन्ध मे प्रसाद का यह कहना था कि—

"मैं तो यह कहूँगा कि सरलता और क्लिष्टता पात्रों के भावों और विचारो के अनुसार भाषा में होगी ही और पात्रों के भावों और विचारों के आधार पर भाषा का नाटकों मे प्रयोग होना चाहिए। किन्तु इसके लिए भाषा की स्वतंत्रता नष्ट करके कई तरह की खिचडी भाषाओं का प्रयोग हिन्दी नाटको के लिए ठीक नहीं है। पात्रो की संस्कृति के अनुसार उनके भावों और विचारों मे तारतम्य होना भाषाओ के परिवर्तन से अधिक उपयुक्त होगा। देश और काल के अनुसार भी सांस्कृतिक दृष्टि से भाषा मे पूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिए।"

इस सम्बन्ध में हमारा यह कहना है कि यदि नाटककार का मूल उद्देश्य उसे रंगमंच पर प्रस्तुत है तो उसकी भाषा सरल होनी ही चाहिए। क्योंकि दर्शकों में शिक्षित-अशिक्षित सभी प्रकार के व्यक्ति होते हैं। और प्रसाद के नाटकों की भाषा सामान्य दर्शक की समझ मे नहीं आ सकती। यदि प्रसाद के नाटकों को केवल पढ़ने का ही सम्बन्ध है, तो हमें उनका मूल्यांकन साहित्यिक-दृष्टि से करना होगा। उस स्थिति मे भी एक बात आड़े आ जाती है कि नाटक यथार्थवादी-विधा है और इसी विधा की

भाषा सुबोध होनी चाहिए। उसमें कल्पना की काव्यात्मक उड़ानों के लिए अधिक स्थान नहीं रहता। परन्तु प्रसाद के नाटकों में कल्पना की, भावाकुलता की असीम उड़ानें मिलती हैं, जो एक ओर तो कथा की गति को शिथिल बना देती है और दूसरी ओर दुरूहता उत्पन्न कर देती हैं। क्योंकि उनकी भाषा अलकृत और संस्कृत-गर्भित हो उठती है।

परन्तु संस्कृत-गर्भित भाषा का प्रयोग करना प्रसाद की मजबूरी थी। क्योंकि उनके सभी नाटक प्राचीन भारतीय-इतिहास से सम्बन्धित हैं। उस समय के इतिहास और वातावरण को प्रस्तुत करने के लिए केवल संस्कृत-गर्भित हिन्दी ही समर्थ हो सकती थी न कि आधुनिक सामान्य बोलचाल की हिन्दी, जिसमें अनेक विदेशी भाषाओं के शब्द भरे हुए हैं। इसलिए संस्कृत-गर्भित हिन्दी ही पाठकों-दर्शकों में यह विश्वास उत्पन्न कर सकती थी कि वे जिन पात्रों को अभिनय करता देख रहे हैं, वे वास्तविक अर्थात् ऐतिहासिक हैं, कल्पित नहीं। इसी कारण हम प्रसाद के पात्रों को संस्कृत-गर्भित हिन्दी का प्रयोग करता पाते हैं। इस दृष्टि से प्रसाद की इस भाषा-शैली को उपयुक्त ही माना जायेगा। अस्तु,

मिश्रित नाट्य-शैली

समष्टि रूप से, प्रसाद के नाटकों को भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-शिल्पों का मिश्रित और अधिक सशक्त रूप माना जा सकता है। उनके कथानक, खलनायक, नायक, रस, शील-निरूपण आदि भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुरूप हैं। कथानकों के विकास में एक ओर तो कार्यावस्थाओं, अर्थप्रकृतियों और सन्धियों का निर्वाह हुआ है, पताका तथा प्रकरी नामक प्रासंगिक कथाएँ भी आई हैं, दूसरी ओर पाश्चात्य-शैली के कथा-विकास के पाँचों सोपान भी मिल जाते हैं। इसी प्रकार उनमें एक ओर तो भारतीय रस-सिद्धान्त के अनुरूप रस के साधारणीकरण की पूरी प्रक्रिया मिलती है, साथ ही अन्तर्द्वन्द्व का समावेश कर पाश्चात्य व्यक्ति-वैचित्र्यवाद की भी योजना कर दी गई है। स्कन्दगुप्त, चाणक्य, बिम्बसार, देवसेना आदि पात्र अपने मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों में ग्रस्त अपने चरित्र के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन करते चलते हैं। इनमें व्यक्ति-वैचित्र्य और चारित्रिक उत्थान-पतन के बड़े स्वाभाविक और मनोरम रूप मिलते हैं। यह प्रक्रिया भारतीय नाट्य-शास्त्र से सर्वथा भिन्न है। भारतीय नाट्य-शास्त्र में 'रस' को प्रधान माना गया है और पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र में द्वन्द्व और कार्य-व्यापार को। प्रसाद के नाटकों में इन दोनों का ही सफल निर्वाह हुआ मिलता है। इनमें वीर और शृंगार रस प्रधान रहे हैं, साथ ही नाटक आरम्भ से अन्त तक संघर्ष (द्वन्द्व) और कार्य-व्यापार से भरे रहते हैं। प्रसाद के 'ध्रुवस्वामिनी' में तो इस समन्वय का उत्कृष्टतम रूप मिलता है।

इन्हीं विशेषताओं के कारण प्रसाद को नई शैली के आधुनिक हिन्दी-नाटकों का जन्मदाता और हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ नाटककार माना गया है।

८

लोक-धर्म के एकान्त उपासक

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

- युग-प्रवर्त्तक मनीषी आचार्य
- उपयोगितावादी दृष्टिकोण, साहित्य और लोक-जीवन परस्पराश्रित, लोकधर्म : एकान्त उद्देश्य
- सत्याधारित यथार्थवादी दृष्टि, कलावाद का विरोध
- शुभ के संग्रहकर्त्ता आचार्य शुक्ल
- कविता का उद्देश्य . लोकमंगल, लोकधर्म के दो पक्ष
- मानसिक-दासता के कट्टर विरोधी
- शुक्लजी के आलोचना-सिद्धान्त, लोकपक्ष : एकमात्र उद्देश्य
- काव्य की दो श्रेणियाँ, भावों के शुभ-अशुभ रूपों की कसौटी
- काव्य का उद्देश्य : भाव-परिष्करण, भाव की अनुभूति ही रस है, अध्यात्मवाद का विरोध
- काव्य-विषय के तीन क्षेत्र, शुक्लजी पर लगाए गए आक्षेप, अत्यधिक गम्भीरता का आरोप

युग-प्रवर्त्तक मनीषी आचार्य

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल बीसवीं सदी के ऐसे मौलिक चिन्तक और युग-प्रवर्त्तक मनीषी साहित्यकार थे जिन्होंने अपनी अभूतपूर्व साहित्य-साधना द्वारा हिन्दी-साहित्य की सम्पूर्ण गतिविधियों का नियमन किया था। उन्होंने हिन्दी-साहित्य का मौलिक इतिहास लिख कर सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य का, आरम्भ से लेकर अपने समय तक के साहित्य का, एक वैज्ञानिक और स्पष्ट स्वरूप प्रस्तुत किया था। उनके इस इतिहास को इतिहास के साथ ही सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य की एक मौलिक समीक्षा भी माना जा सकता है। उन्होंने सूर, तुलसी और जायसी के साहित्य की विस्तृत समीक्षा कर

समीक्षा को वैज्ञानिक और सारग्राही रूप प्रदान किया था। अनेक निबन्ध लिखकर भाव और काव्य-सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए हिन्दी-निबन्ध को एक सुगठित और प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत किया था। उनके साहित्य के इतिहास की परम्परा में बाद में अनेक इतिहास लिखे गए, जिनका मूल ढाँचा शुक्लजी के इतिहास का ही रहा। उनकी समीक्षाओं और निबन्धों का मूल्यांकन करते हुए विद्वानों ने उन्हें 'आलोचक-सम्राट्' और सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार घोषित किया था। साहित्य-जगत में, उस युग में भी शुक्लजी का प्रभाव सर्वोपरि था और आज भी हिन्दी का कोई समीक्षक और इतिहासकार उनकी प्रतिष्ठा के सामने नहीं ठहर पाता।

शुक्लजी के इस व्यापक और गहरे प्रभाव का असली कारण यह था कि उन्होंने साहित्य को लोककल्याण का विधायक माना और सिद्ध किया था। और ऐसा करते समय उन्होंने कला-जगत में प्रचलित विदेशी व्यक्तिवादी विचारधाराओं का घोर विरोध किया था। ऐसा करने में उनका लक्ष्य हिन्दी-साहित्य को उन दूषित विचारधाराओं के प्रभाव से बचाना रहा था।

उपयोगितावादी दृष्टिकोण

साहित्य के प्रति शुक्लजी का दृष्टिकोण आरम्भ से अन्त तक विशुद्ध उपयोगितावादी अर्थात् जन-कल्याणकारी रहा था। इसी कारण उन्होंने संस्कृत के प्राचीन काव्य-सिद्धान्तों के अनुपयोगी, अर्थात् लोकजीवन से विमुख तत्त्वों का विरोध किया था। साथ ही, अपने समय में नव-प्रचारित पाश्चात्य-समीक्षा के 'अभिव्यंजनावाद', 'कला, कला के लिए' जैसे व्यक्तिवादी और कलावादी सिद्धान्तों का भी उसी दृढ़ता के साथ खण्डन किया था। वे काव्य को क्षणभर के लिए भी लोकजीवन से विमुख होना देखना सहन नहीं कर पाते थे। उनकी दृष्टि में काव्य का लोक से शाश्वत और अटूट सम्बन्ध रहा था और रहना चाहिए। तभी काव्य की सार्थकता है। उन्होंने जहाँ-जहाँ काव्य को लोक से विमुख होता देखा, उस पर निर्मम प्रहार किया है। रीतिकालीन-साहित्य के अधिकांश अंश का उन्होंने इसी कारण विरोध किया था कि वह समाज के विस्तृत क्षेत्र से हटकर, काव्य-शास्त्र अथवा व्यक्ति-विशेषों के प्रशस्ति-गायन तक ही सीमित होकर रह गया था। इसीलिए शुक्लजी ने उस साहित्य को समाज का कल्याण करने में असमर्थ और अनुपयोगी घोषित कर दिया था।

साहित्य और लोक-जीवन : परस्पराश्रित

शुक्लजी कवि को लोकद्रष्टा मानते थे। उन्होंने अपने 'कविता क्या है ?' शीर्षक निबन्ध में सच्चे कवि की पहचान बताते हुए कहा है—"सच्चा कवि वही है जिसे लोकहृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोकहृदय में लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।" इस प्रकार उन्होंने रस-सिद्धान्त को पूर्णरूपेण लोक-संग्रह-कारी शक्ति का पोषक घोषित कर दिया है। एक अन्य स्थान पर शुक्लजी पुनः कहते

हैं—"काव्य को हम जीवन से अलग नहीं कर सकते। उसे हम जीवन पर मार्मिक प्रभाव डालने वाली वस्तु मानते है।" इसी आधार पर, उनकी दृष्टि में रस-सिद्धान्त के निरूपण में दक्ष प्रकृत कवि वही है—"प्राप्त प्रसंग के गोचर-अगोचर सब पक्षों तक जिसकी दृष्टि पहुँचती है, किसी भी परिस्थिति में अपने को डालकर उसके अंग-प्रत्यंग का साक्षात्कार जिसका अन्तःकरण कर सकता है।"

इस प्रकार शुक्लजी काव्य को व्यक्तिवाद की सीमित-संकीर्ण परिधि से ऊपर उठाकर उसे लोक अथवा समाज से दृढ़तापूर्वक सम्बद्ध कर देते है, क्योंकि, उनकी दृष्टि में, मनुष्य का व्यक्ति-रूप में, इकाई रूप में अधिक महत्त्व नहीं है। जब व्यक्ति समाज के अंग के रूप में हमारे सामने आता है, तभी उसका महत्त्व माना जा सकता है। इसलिए समाज के लिए किसी भी चीज का कल्याणकारी महत्त्व तभी हो सकता हैं, जब उस वस्तु का लक्ष्य व्यक्ति न होकर लोक हो। इसी बात को शुक्लजी ने इस प्रकार कहा है—"मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसकी अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है। लोक के भीतर कविता क्या, किसी का भी प्रयोजन और विकास होता है।"

लोकधर्म : एकान्त उद्देश्य

अपनी उपर्युक्त धारणा के आधार पर ही शुक्लजी काव्य का उद्देश्य अत्यन्त महान् बताते हुए कहते है—"काव्य का लक्ष्य है जगत और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना, जिससे मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने को निकाल कर उसे विश्व-व्यापिनी और त्रिकालवर्ती अनुभूति मे लीन करें। इसी लक्ष्य के भीतर जीवन के ऊँचे से ऊँचे उद्देश्य आ जाते हैं। इसी लक्ष्य के साधन से मनुष्य का हृदय जब विश्व-हृदय भगवान के लोकरक्षक और लोकरंजक रूप से जा मिलता है, तब वह भक्ति में लीन हो जाता है।" इस प्रकार शुक्लजी के अनुसार काव्य का लक्ष्य लोकधर्म का पालन सिद्ध होता है। और इस लोकधर्म के अन्तर्गत लोककल्याण, मानव-जीवन को उन्नत करना, उसमें दिव्य भावों का संचार करना तथा उसे कर्मण्य और सात्त्विक प्रवृत्ति का बनाना आदि गुण आ जाते है। अपने इसी दृष्टिकोण के कारण उन्हे जिस कवि के काव्य में लोकधर्म की जितनी ही ऊँची और गहन स्थापना मिली, उन्होंने उसे उतना ही अधिक महत्त्व दिया। जिस बात को कुछ आलोचक तुलसी के प्रति शुक्लजी का पक्षपात बताते हैं, उसके मूल मे लोकधर्म के प्रति शुक्लजी की यही धारणा प्रमुख कारण रही है। 'मानस' मे चित्रित अपने व्यापक लोकधर्म के कारण ही तुलसी शुक्लजी के इतने अधिक प्रिय और श्रद्धा-भाजन बन गए थे।

लोकधर्म की व्यापकता को शुक्लजी कितना अधिक महत्त्व देते हैं—इस बात का पता उनके उस कथन से भली-भाँति चल जाता है, जिसमे उन्होने व्यष्टि से समष्टि को अधिक महत्त्व देते हुए कहा है धर्म की उसके लक्ष्य के

व्यापकत्व के अनुसार समझी जाती है। गृह-धर्म या कुल-धर्म से समाज-धर्म श्रेष्ठ है। समाज-धर्म से लोक-धर्म, लोक-धर्म से विश्व-धर्म, जिसमें धर्म अपने शुद्ध और पूर्ण रूप से दिखाई पड़ता है।"

सत्याधारित यथार्थवादी दृष्टि

लोक अथवा लोकधर्म का यह आकर्षण शुक्लजी के मन में इतना प्रबल और गहरा था कि वे साहित्य की किसी भी वस्तु को, किसी भी भाव या लक्ष्य को लोक से विमुक्त करके नहीं देख पाते थे। इसका कारण यह था कि वे संसार को अध्यात्मवादियों के समान मिथ्या और भ्रम न मान सत्य और यथार्थ मानते थे। उनके लिए संसार अपार और अगाध रूप-समुद्र था। मानव-हृदय मे भावों का स्पन्दन इसी सत्य-संसार के कारण होता है। इस कारण भावों का स्थायी आधार यही जगत है और साहित्य मे इसी जगत का भावपूर्ण अंकन होता है। परन्तु विशुद्ध भाववादी साहित्यकार साहित्य को जीवन से स्वतन्त्र और पृथक करके देखते हैं। और शुक्लजी साहित्य में अंकित भावों और जीवन के भावों में कोई बुनियादी अन्तर नहीं पाते, इसलिए उन्हें लोकोत्तर अथवा अलौकिक नहीं मानते। उनका कहना है कि हमारे आधुनिक भावों के रूपों तथा व्यापारों मे उनके आदिम मूल रूप परिवर्तित रूप में विद्यमान हैं और इन भावों के विषय मूर्त और गोचर होते हैं। "भावों के अमूर्त विषयो की तह में भी मूर्त और गोचर रूप" छिपे रहते है। इसी कारण शुक्लजी भावो से उत्पन्न रस को लोकोत्तर न मान लौकिक ही मानते हैं। जीवन और साहित्य के पारस्परिक अटूट सम्बन्ध को मानने से ही वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। इसी कारण उन्होंने घोषणा की थी—"लोक-हृदय मे लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।"

भाववादी साहित्य-शास्त्री भावों को उनके आधार जीवन और जगत से अलग करके देखते रहे हैं, परन्तु शुक्लजी ने भावों को लोक मे ही उत्पन्न माना है। भाववादी मानव-जीवन मे परे एक अव्यक्त सौन्दर्य की सत्ता मानते है। इस प्रकार ये लोग साहित्य को लोक से पृथक् करके देखने के अभ्यस्त रहे हैं और उसे अध्यात्म के आवरण के नीचे ढँक उसे अलौकिक बना देते है। परन्तु शुक्लजी का कहना था कि— 'अध्यात्म शब्द की, मेरी समझ में, काव्य या कला के क्षेत्र मे कहीं कोई जरूरत नहीं है।' इसी आधार पर उन्होंने काव्य मे रहस्यवाद का खण्डन किया था। डा० रामविलास शर्मा ने इसका विवेचन करते हुए लिखा है—"लोक-हृदय में लीन होने की कसौटी रखकर उन्होंने (शुक्लजी ने) हर तरह की संकुचित व्यक्तिवादी और भाववादी धारणाओं से साहित्य को मुक्त करके उसे सामाजिक-जीवन का एक अंग बना दिया। इसलिए लोकहृदय, लोकमंगल या लोकहित को दर-किनार करके साहित्यकार आगे नहीं बढ़ सकता।"

कलावाद का विरोध

यूरोप के कलावादी 'प्रत्यक्ष की अनुभूति' अर्थात् जीवन की अनुभूति से काव्य की अनुभूति को पृथक करके देखते हैं वे कल्पना को एक स्वतंत्र शक्ति उसे